# प्रज्ञा प्रवचन

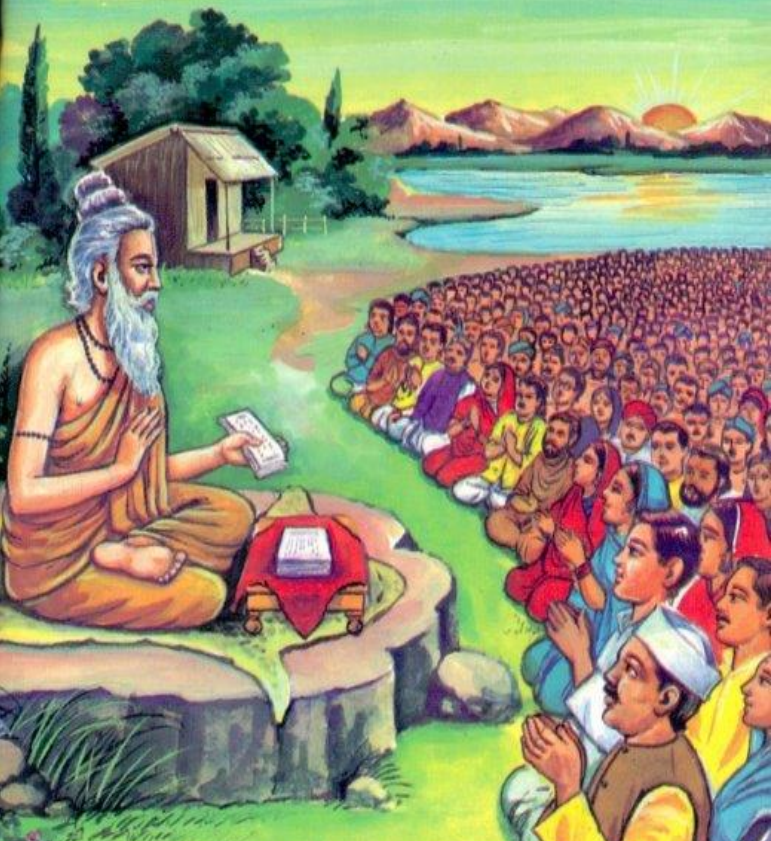

# प्रज्ञा प्रवचन

संपादक :

**ब्रह्मवर्चस्**

प्रकाशक :

**युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट**

**गायत्री तपोभूमि, मथुरा**

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : १५.०० रुपये

# विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| **प्रज्ञा-प्रवचन क्र. १** | |
| (अ) अवतार का उपयुक्त समय, कारण तथा कार्यक्रम | ३ |
| (ब) उज्ज्वल भविष्य की सुनिश्चित संभावनाएँ | १२ |
| **प्रज्ञा-प्रवचन क्र. २** | |
| (अ) जाग्रत् आत्माओं की प्रस्तुत बेला में मूर्धन्य भूमिका | २३ |
| (ब) सर्व साधारण की संभावनाओं के अनुरूप स्वयं को बदलने की चेतावनी | ३४ |
| **प्रज्ञा-प्रवचन क्र. ३** | |
| (अ) प्रस्तुत समस्याओं का एक मात्र कारण तथा निवारण | ४५ |
| (ब) प्रज्ञा अभियान एवं धर्म-तंत्र के पुनर्जीवन में उसकी भूमिका | ५४ |
| ● प्रज्ञा अभियान के कार्यक्रम एवं भावी योजनाएँ | ६३ |

# (अ) अवतार का उपयुक्त समय, कारण तथा कार्यक्रम

स्रष्टा ने विश्व-संतुलन का उत्तरदायित्व अपने वरिष्ठ राजकुमार मनुष्य के हाथ में सौंपा है। जब तक उसका चिंतन और चरित्र अपनी गरिमा के अनुरूप रहता है, तब तक वह स्वयं सुखी रहता है और समूचे वातावरण को प्रगति, समृद्धि से भरे रहता है, किंतु जब वह निकृष्ट चिंतन और भ्रष्ट-व्यवहार पर उतारू होता है, तो न केवल अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है, वरन् अन्य सबके लिए भी विषबेल बोकर अनेकों प्रकार के संकट खड़े कर देता है। सृष्टि-संतुलन के गड़बड़ाने में मुख्यतः मनुष्य की अवांछनीय गतिविधियाँ ही आधारभूत कारण होती हैं।

मनुष्य जब अत्यधिक दुराग्रही, अहंकारी और ढीठ हो जाता है, सज्जनता की रीति-नीति को बेतरह तोड़ता है और दुष्टता पर उतारू हो जाता है, तभी स्रष्टा को ऐसा कुछ करना पड़ता है, जो कष्टकर और भयंकर दीखे। यद्यपि सड़ा फोड़ा चीरने के लिए माता द्वारा रोगी बच्चे को अस्पताल में पहुँचाना और डॉक्टर द्वारा चीर-फाड़ करना दोनों के ही काम निर्ममतापूर्ण दीखते हैं, पर उससे रोगी-बालक का हित ही लक्ष्य में रहता है। दोनों ही यह चाहते हैं कि कष्ट-पीड़ित का कष्ट मिटे और वह रोज-रोज की व्यथा-वेदना से मुक्ति पाकर सुख-शांति का जीवन बिताये, भले ही कुछ क्षण इसके लिए उसे कष्ट उठाना पड़े। आज का मानव समाज भी विषाक्त फोड़े से ग्रस्त रोगी की तरह है। उसके कल्याण का इन परिस्थितियों में सही मार्ग दीखता है कि फोड़ा चीर दिया जाय, ताकि सड़ा मवाद, जो हर समय वेदना उत्पन्न करता है—निकलकर दूर हो जाय।

अवतारों का यही प्रयोजन सदा से रहा है। वे इस प्रकार की हलचल पैदा करते आते रहे हैं, जिससे अशांति का अंत होकर शांति की स्थापना हो। महाकाल समय-समय पर इसी प्रयोजन के लिए एक भावनात्मक प्रवाह उत्पन्न करते हैं। इस प्रवाह से जन-मानस उद्वेलित होता है और उसमें से कितने ही ऐसे योद्धा निकल पड़ते हैं, जो इस दैवी पुण्य प्रयोजन की पूर्ति के लिए असाधारण पुरुषार्थ कर दिखाएँ। अभीष्ट प्रयोजन को एक व्यक्ति नहीं वरन् अनेक मिलकर संपन्न करते हैं। भले ही उस अभियान के नेताओं में से किसी एक को विशेष ख्याति मिल जाय, पर वस्तुतः होता वह भावनात्मक प्रवाह ही है, जो सहज ही अनेक साथी-सहयोगी बनाकर खड़े कर देता है और कष्ट-साध्य दीखने वाली परिवर्तन प्रक्रिया देखते-देखते सरल हो जाती है। आश्चर्यचकित लोग सूक्ष्म जगत की प्रभु प्रेरित विधि-व्यवस्था को तो देख नहीं पाते, बाहर जो सबसे प्रमुख व्यक्ति दीखता है, उसी के सिर श्रेय का सेहरा बाँध देते हैं। अवतारी या विजेता कोई एक घोषित किया जाता है—यह मनुष्य की स्थूल दृष्टि की भूल-भरी परख है। तत्त्वदर्शी जानते हैं कि एक व्यक्ति कितना ही बड़ा या समर्थ क्यों न हो, वह अगणित मनुष्यों के सहयोग के बिना कुछ नहीं कर सकता और यह सामूहिक संघर्ष, असहयोग की प्रवृत्ति समय-समय पर महाकाल भड़काते हैं। वे निराकार हैं—इसलिए उनका कार्य क्षेत्र भी सूक्ष्म जगत् ही होता है। वे भाव स्वरूप-चेतना हैं। इसलिए विश्व व्यापी चेतन तत्त्व में ही उनकी आकांक्षा सक्रिय होती है। उसकी स्फुरणा से प्रबुद्ध व्यक्ति बड़े-बड़े काम करने वाले लगते हैं, उन्हें सहयोग, श्रेय और साफल्य उपलब्ध होता है, इसलिये लोग उन्हीं को प्रयोजन पूर्ण-कर्ता, विजयी, उद्धारक, अवतार मानते हैं। वस्तुतः होता कुछ और ही है। इन कठपुतलियों को नचाने वाला सूत्रधार परदे के पीछे छिपा बैठा रहता है, उसे चमड़े की आँखें देख कहाँ पाती हैं ?

युग परिवर्तन की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए अतीत काल में अनेकों अवतार हुए हैं। उद्देश्य सभी का एक था—

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।**
**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।**

इसको रामायण में इन शब्दों में कहा गया है—

**जब-जब होइ धरम की हानी।**
**बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।**
**तब-तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा।**
**हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।**

(बाल०)

सृष्टि में अब तक अनेकों बार असंतुलन उत्पन्न हुए हैं और बार-बार भगवान ने स्वयं आकर उसे सँभाला है। इतिहास-पुराणों के अनुसार ऐसी विषम परिस्थितियाँ अब तक तेईस बार आ चुकी हैं, चौबीसवीं अब की बार है। हर बार परिस्थितियों में अंतर होता है इसलिए स्रष्टा को उनके अनुरूप ही अपना स्वरूप एवं कार्यक्रम निर्धारित करना पड़ता है। मत्स्य, कच्छप से लेकर बुद्धावतार तक हुए अवतारों में से हर एक को अपनी लीलाएँ सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप निर्धारित करनी पड़ी हैं।

मत्स्यावतार और कच्छप अवतार सज्जनता के सहयोग के लिए ही थे। अनीति उच्छेदन की उस युग में आवश्यकता ही नहीं थी। लोकसेवी ऋषियों तथा कर्त्तव्यनिष्ठ राजा की नाव को सहारा देने मत्स्य रूप में प्रभु आये और असुरों के सहयोग से समुद्र-मंथन को सफल बनाने के लिए कच्छप बनकर सहायता की।

इसी प्रकार अगले अवतारों ने भी समयानुकूल भूमिका निभाई थी। विश्व-संपदा को अपने कब्जे में करके, उसे रसातल में पहुँचा देने वाले हिरण्याक्ष की चाल को काटने के लिए वाराह रूप धारण

कर समुद्र में प्रवेश करने और अपहृत वैभव को वापस लाने का कार्य किया था। उसी का दूसरा भाई 'हिरण्यकश्यपु' भी वही नीति अपनाकर सार्वजनीन संपदा अपने कब्जे में करता चला जा रहा था और वैसा ही करने के लिए अपने पुत्र प्रहलाद पर भी दबाव डाल रहा था। अनीति अपनाने की क्या दुर्गति होती है ? इसे वह हिरण्याक्ष वध के समय देख चुका था, इसीलिये उसने मनुष्य या पशु से, दिन या रात में, खुले या आच्छादन के नीचे, जमीन या आकाश में न मरने का वरदान चतुरतापूर्वक प्राप्त कर लिया था। चरम सीमा पर पहुँची हुई अनीति को निरस्त करने के लिए भगवान को गुत्थी सुलझाने वाला विचित्र हल निकालना पड़ा। वे आधे मनुष्य, आधे पशु की आकृति 'नृसिंह' बनकर अवतरित हुए और वरदान के सभी अनुबंधों को निरस्त करते हुए संध्याकाल, देहरी पर लगा हुआ खंभा फाड़कर निकले और असुर को गोदी में रखकर, बिना शस्त्र के ही नाखून से उसका उदर विदारा। वरदान अपनी जगह पर बना रहा और अवतार का प्रयोजन अपने ढंग से पूर्ण हो गया।

उदार राजा बलि की संपदा का उपयोग असुर उठा रहे थे। उसे मोड़ देना आवश्यक था। बलि में संपदा का सदुपयोग करने की उदारता की गुंजाइश देखकर ही प्रभु ने वामन रूप बनाया और समझा-बुझाकर ही वह प्रयोजन पूर्ण कर लिया, जो वध करने पर हो सकता था। परशुराम को दो मोर्चों पर जूझना पड़ा। उन्होंने अपना आधा कार्यकाल फरसा चलाने में और आधा फावड़ा प्रयुक्त करने में लगाया। फरसे से उन्होंने व्यापक क्षेत्र में उगे हुए विष-वृक्षों को झाड़-झंखाड़ों को काटकर निरस्त किया तथा फावड़े की सहायता से वे धरती को समतल बनाने और उद्यान लगाने के कार्य में निरत रहे। यह वही कार्य था, जो बाद में द्रोणाचार्य को भी एक हाथ में शस्त्र, दूसरे में शास्त्र लेकर करना पड़ा।

राम का मर्यादा-पालन, लंका-दमन, राम-राज्य संस्थापन सर्व विदित है। कृष्ण द्वारा सामंती स्वेच्छाचार को हटाकर विशाल भारत

बनाने की दूरगामी योजना से सभी विदित हैं। उन्होंने धर्म नीति और कूटनीति में समन्वय कर 'पूर्ण पुरुष' का पद पाया और अपने उत्कृष्ट दृष्टिकोण और प्रखर लोक-व्यवहार का समन्वय करके योगेश्वर कहलाये। उनकी भाव-विभोर करने वाली वंशी और आग उगलने वाले चक्र सुदर्शन थे—ये परस्पर विरोधी समझे जाने वाले चमत्कार अपने-अपने स्थान पर कीर्तिमान स्थापित करते रहे। धर्म के नाम पर फैले हुए अनाचारी वाम-मार्ग के विरुद्ध एकाकी बिगुल बजाने वाले और असुरता के विरुद्ध देवत्व की विशालकाय सेना खड़ी कर देने वाले बुद्ध की तपश्चर्या, प्रखरता और रणनीति देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

धर्म क्षेत्र में विकृतियाँ बढ़ीं तो उनका स्वरूप साबुन से भी गंदगी फैलने जैसा हो गया। मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन के पंचमकार धर्म की आड़ में लोक-व्यवस्था को तहस-नहस करने लगे और जन-जीवन में अस्त-व्यस्तता आने लगी, तो बुद्ध ने धर्म व्यवस्था के लिए सज्जनों को संगठित कर विवेक को सर्वोपरि स्थान पर प्रतिष्ठित किया। 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' ही बुद्ध का लीला संदोह है। इसका शंखनाद सुनकर, बुद्ध के आह्वान पर लाखों धर्म-प्रचारक प्रवृज्या पर निकल पड़े तथा उन्होंने विचार-क्रांति का आलोक संसार के कोने-कोने तक पहुँचाया।

परिस्थितियाँ बदलती रही हैं और इसके लिए भगवान को भी अपना आधार बदलते रहना पड़ा है। विकास क्रम की व्यवस्था के अनुरूप भगवान के अवतार का स्वरूप, स्तर तथा कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया। मनुष्य जब तक साधन प्रधान और कार्य प्रधान था, तब तक शस्त्र और साधनों से काम चलता रहा, लेकिन वर्तमान परिस्थितियाँ भिन्न हैं। इस समय बुद्धि तत्त्व ही प्रधान है, यही तत्त्व चतुर्दिक् छाया हुआ है। महत्त्वाकांक्षाओं के क्षेत्र में अनात्म तत्त्व की भरमार होने के कारण संपन्नता तथा समर्थता का दुरुपयोग ही बन पड़ रहा है, इस विकृति का क्षेत्र सीमित नहीं रहा,

वरन् इस समूची मानव जाति को ही इसने जकड़ लिया है। विज्ञान की उपलब्धियों से दुनिया बहुत छोटी हो गई है और गतिशील तथा अति द्रुतगामी, सिमटती हुई और तेज भागती दुनिया में भगवान का अवतार युगांतरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है। इसी रूप से जन-मानस को सुविस्तृत क्षेत्र में अपने पुण्य-प्रवाह का परिचय मिल सकता है, जिसमें कि प्रज्ञावतार के प्रादुर्भाव की सूचना संभावना सामने हैं।

बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। उनके लीला चरित्र के स्वरूप के विचार को एक शब्द में विचार-क्रांति कहा जा सकता है। लाखों धर्म धारणा संपन्न व्यक्तियों ने इस प्रक्रिया को अपना योगदान देकर संपन्न किया। आनंद जैसे मनीषी, हर्षवर्धन जैसे श्रीमन्, अंबपाली जैसे कलाकार और अंगुलिमाल जैसे दुस्साहसी, पराक्रमी, प्रतिभाशाली लोग बड़ी संख्या में उस अभियान के अंग बने थे। बुद्ध के हुए पहले अवतारों का कार्यक्षेत्र सीमित था, क्योंकि उनके समय की समस्याएँ छोटी और स्थानीय थीं। बुद्ध काल तक समाज का विस्तार बड़े क्षेत्र में हो गया था। इसलिए बुद्ध का कार्य भी भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा और उन दिनों जितने व्यापक स्तर के प्रयास संभव थे, वे सभी अपनाये गये। इसका प्रभाव भारत ही नहीं पूरे एशिया में फैला। उससे भी आगे बढ़कर अन्य महाद्वीपों तक अपना आलोक पहुँचाया।

इतिहास कई बार अपनी पुनरावृत्ति किया करता है। ऋतुएँ अपने चक्र पर घूमकर एक वर्ष बाद जहाँ की तहाँ आ जाती हैं। सूर्य जहाँ आज उदय हुआ था, २४ घंटे बाद फिर वहीं से उदय होता है। जीव जन्म लेता है, बढ़ता है, मर जाता है, फिर इसके बाद उसी जन्मने, बढ़ने एवं मरने के क्रम को दुहराता है। पृथ्वी अपनी धुरी पर एक दिन में एक परिभ्रमण करती है और वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा करती है, यही क्रम वह अनादिकाल से असंख्यों बार दुहराती चली जाती है। युग मन्वंतर, कल्प आदि अपने क्रम को दुहराते रहते हैं। यह नक्षत्र अपनी धुरी और परिधि पर बार-बार निर्धारित क्रम से भ्रमण करते हैं। सृष्टि

और प्रलय का चक्र भी यथावत् चलता रहता है। समुद्र से वर्षा, वर्षा का जल समुद्र में—इसके बाद वही क्रम। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज। तात्पर्य यह है कि इस संसार में सभी कुछ अपनी नियत क्रम व्यवस्था के अनुसार परिभ्रमण करते हुए बार-बार उसी केंद्र-बिंदु पर आ पहुँचता है, जहाँ से कि वह आरंभ हुआ था।

जराजीर्ण समाज व्यवस्था में बार-बार सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती है। कपड़ा मैला हो जाता है, उसे फिर धोना पड़ता है। बर्तनों की हर दिन सफाई होती है। घर में रोज बुहारी लगती है। दाँत रोज माँजने पड़ते हैं। कारण यह है कि एक बार सफाई कर देने के बाद भी फिर मैल जमना आरंभ हो जाता है और कुछ ही समय में मलीनता इतनी बढ़ जाती है कि दुबारा उसकी सफाई अनिवार्य हो जाती है। दीपावली पर हर साल मकान की लिपाई, पुताई तथा रंगाई न की जाये तो उसकी सुंदरता और मजबूती दोनों को ही खतरा पैदा हो जायेगा। इमारतें, नहरें, सड़कें, मशीनें, मोटरें सभी अपनी सामयिक मरम्मत माँगती हैं। यदि इसकी उपेक्षा की जाये, तो वे बहुमूल्य वस्तुएँ समय से बहुत पहले ही निकम्मी और बर्बाद हो जाती हैं। अतएव बुद्धिमान लोग जब भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि तुरंत सुधार की प्रक्रिया संपन्न करते हैं। यह एक निर्धारित क्रम है, जिसकी पुनरावृत्ति होती ही रहनी चाहिए। जराजीर्ण समाज व्यवस्था की समयानुसार मरम्मत होती है। सुधारकों का आवागमन बना रहता है। धर्मोपदेशक, समाज सुधारक, मार्गदर्शक, देवदूत, संत, ऋषि, मुनि समय-समय पर आते हैं और अपने काल की तात्कालिक आवश्यकताओं को देखकर उनके सँभालने-सुधारने का अपने-अपने ढंग से प्रयत्न करते हैं। अब तक हर देश में, हर काल में वही भाषा और संस्कृति के आधार पर सुधार कार्य संपन्न करने वाली ऐसी अगणित आत्मायें अवतरित हो चुकी हैं, आगे भी होंगी।

परिस्थिति जब अधिक विषम हो जाती है, तो उसके लिए महाकाल को अपने शस्त्र सँभालने पड़ते हैं। छोटे-मोटे मकान, पुल

मामूली इंजीनियर बना लेते हैं, पर यदि कोई बहुत बड़ा बाँध बनाना हो, तो उसके लिए बड़े इंजीनियरों की आवश्यकता पड़ती है। कोई भारी बाँध टूट जाय और उसमें भरे हुए पानी से सैकड़ों मील दूर तक प्रदेश डूब जाने का खतरा उत्पन्न हो जाय, तो उस संकट का निवारण फिर मामूली इंजीनियरों के वश का काम नहीं रहता। फिर उस समस्या का हल विशेषज्ञों द्वारा ही खोजा जाता है। समाज में मामूली गड़बड़ियाँ तो बार-बार होती, उठती रहती हैं और उनका सुधार कार्य सामान्य सुधारकों द्वारा संपन्न हो जाता है, पर जब पाप अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाता है, मर्यादायें टूट जाती हैं, जन-मानस चिकने घड़े की तरह किसी शुभ प्रेरणा और सत् प्रभाव से प्रभावित होने की क्षमता खो बैठता है, तब महासुधारक की जरूरत पड़ती है। इस कार्य को महाकाल स्वयं करते हैं, क्योंकि अंततः बिगड़ी, बेकाबू परिस्थितियों को काबू में लाने की जिम्मेदारी उन्हीं की है। अस्पतालों में छोटे आपरेशन ही सहायक डॉक्टर करते रहते हैं, पर जब जान-जोखिम का 'मेजर आपरेशन' करना हो, तो उसमें सिविल सर्जन की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। इन दिनों जन-जीवन जिस अनैतिक स्तर पर पहुँच गया है, उसमें अब छोटे सुधार से एवं छोटे सुधारकों से काम चलता नहीं दीखता। अब उसके लिए बहुत बड़ी उलट-पलट की उथल-पुथल की आवश्यकता अनिवार्य हो गई है। इस प्रयोजन की पूर्ति भगवान् का प्रत्यावर्तन तत्त्व महाकाल करते रहे हैं। अब भी वे ही करने जा रहे हैं। प्राचीन काल में भी ऐसा ही होता रहा। अब उसी की पुनरावृत्ति पुनः होने जा रही हैं।

बुद्ध अवतार का उत्तरार्द्ध ही प्रज्ञावतार है, जो इन दिनों संपन्न होने जा रहा है। आज का युग बुद्धि प्रधान है और बुद्धि-प्रधान युग की समस्याएँ भी चिंतन प्रधान हो सकती हैं। मनुष्य की प्रेरणाओं का केंद्र मान्यताएँ, इच्छाएँ तथा विचारणाएँ होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है। ऐसे समय में अवतार का स्वरूप तदनुरूप ही हो सकता है। लोकमानस में घुस पड़ी विकृतियों को उलटने तथा अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़-मान्यताओं को

निरस्त करने में विचार-क्रांति ही सफल हो सकती है। मानवी चेतना को उत्कृष्टता की दिशा में घसीट ले जाने वाला और सामाजिक क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित करने वाला प्रवाह ही अपने समय का अवतार हो सकता है और वही हो भी रहा है। प्रज्ञावतार को इसी रूप में देखा जा सकता है।

दार्शनिक दृष्टि से अवतार का विश्लेषण ऋतंभरा प्रज्ञा की उमंग भरी हलचलों के रूप में किया जाता है, जो अनायास ही अंतःकरणों में उभरती और अपनी प्रखरता के कारण आदर्शवादी दुस्साहस करने के लिए विवश करती है। यह अवतरण एक नहीं, अनेकों पर होता है। जो इस ऊर्जा के वाहन बनते हैं, वे सामान्य होते हुए भी असामान्य बन जाते हैं। सामान्य लोग संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे की बात नहीं सोच पाते। वे निकट की बात देखते हैं, दूर की नहीं, इसीलिए उनसे न लोभ छूटता है और न शौर्य अपनाते बनता है, किंतु जो अवतार ऊर्जा के वाहन बनते हैं, वे प्रचलन से विपरीत सोचते और किसी का समर्थन न मिलने पर भी अकेले चल पड़ने की सामर्थ्य रखते हैं। इस आवेश में कई व्यक्ति वह सब कर गुजरते हैं, जिसे दैवी पराक्रम माना जाता है। इस प्रकार की चेष्टाएँ भी कर्त्ता को धन्य बनाती हैं और असंख्यों के लिए अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर उत्कृष्ट पराक्रम अपनाने का साहस प्रदान करती हैं। सामान्य भाषा में इन्हें महामानव कहा जाता है।

अवतार का मुख्य कार्य अपने काल में अदृश्य वातावरण को उच्चस्तरीय उमंगों से भर देना होता है। शेष कार्य तो युग-सृजेता स्वयं ही करते हैं और उन्हें सहज ही सफलता भी मिल जाती है। ऐसे लोगों के लिए प्रतिकूलताओं से जूझने का पराक्रम और लोकश्रद्धा उभारने वाला बलिदान करना जरा भी कष्टसाध्य नहीं होता। जन-सामान्य जिसे मुसीबत का मोल लेना मानते हैं, मनीषियों के लिए वही कष्ट-सहन युग साधना के रूप में सम्मानित करता है। जाग्रत् आत्माओं के अंतःकरण में तत्त्वदर्शी जन इस प्रकार की उमंगें उठते हुए देखते हैं, तो कहते हैं कि अवतार का यह आवेश असंतुलन को संतुलन में बदलकर ही रहेगा।

❐ ❐

# (ब) उज्ज्वल भविष्य की सुनिश्चित संभावनाएँ

यह युग-संधि की बेला है। परिवर्तन की घड़ियाँ सदा जटिल होती हैं। एक शासन हटता और दूसरा आता है, तो उस मध्य काल में कई प्रकार की उलट-पुलट होती देखी गई हैं। गर्भस्थ बालक जब छोटी उदरदरी से बाहर निकलकर सुविस्तृत विश्व में प्रवेश करता है, तो माता को प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है और बच्चा जीवन-मरण से जूझने वाला पुरुषार्थ करता है। प्रभात काल से पूर्व की घड़ियों में तमिस्रा चरम सीमा तक पहुँचती है। दीपक के बुझते समय बाती का उछलना-फुदकना देखते बनता है। मरणासन्न की साँसें इतनी तेजी से चलती हैं, मानो वह निरोग और बलिष्ठ बनने जा रहा है।

अदृश्य-दर्शियों के भविष्य-दर्शन इन दिनों को अधिक त्रासदायक बताते हैं। उनका कथन है कि सन् १९८० से २००० तक मध्यवर्ती बीस वर्ष भारी उथल-पुथल के हैं। उनमें एक ओर दुष्प्रवृत्तियों की कष्टकारक दंड व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर होगी, तो दूसरी ओर नवसृजन के आधार भी खड़े होंगे।

संसार के सभी विद्वान, ज्योतिर्विद् और अतींद्रिय द्रष्टा इस संबंध में एकमत हैं कि युग-परिवर्तन का समय आ पहुँचा, उनके अनुसार यह समय युग-संधि की बेला है और इन दिनों संसार में अधर्म, अशांति, अन्याय, अनीति तथा अराजकता का जो व्यापक बोल-बाला दिखाई दे रहा है, उसके अनुसार परिस्थितियों की विषमता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। ऐसे ही समय में धर्म की रक्षा और अधर्म का विध्वंस करने के लिए भगवान का अवतार लेने की शास्त्रीय मान्यता है।

युग परिवर्तन के समय ईश्वरीय शक्ति के प्राकट्य और अवतरण की प्रक्रिया सृष्टिक्रम में सम्मिलित है। असंतुलन को

संतुलन में बदलने के लिए, अपनी प्रेरणा पुरुषार्थ प्रकट करने के लिए भगवान वचनबद्ध हैं। ऐसे ही अवसरों पर गीता में दिया गया उनका 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' का आश्वासन प्रत्यक्ष होता रहा है। आज की स्थितियाँ भी ऐसी हैं कि उनमें ईश्वरी शक्ति के प्राकट्य की, भगवान के अवतार की प्रतीक्षा की जा रही है और सूक्ष्मदर्शी ईश्वरीय सत्ता की अवतरण प्रक्रिया को संपन्न होते देख रहे हैं।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार यह समय कलियुग के अंत तथा सतयुग के आरंभ का है, इसलिए भी इस समय को युगसंधि की बेला कहा जा रहा है। यद्यपि कुछ रूढ़िवादी पंडितों का कथन है कि युग ४ लाख ३२ हजार वर्ष का होता है। उनके अनुसार अभी एक चरण अर्थात् एक लाख आठ हजार वर्ष ही हुए हैं। इस हिसाब से तो अभी नया युग आने में ३ लाख २४ हजार वर्ष की देरी है। वस्तुतः यह प्रतिपादन भ्रामक है। शास्त्रों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि ४ लाख ३२ हजार वर्ष का एक युग होता है।

जिन संदर्भों को इस प्रतिपादन की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया गया है, वे वास्तव में ज्योतिष के ग्रंथ हैं। वह प्रतिपादन गलत नहीं है, प्रस्तुतीकरण ही गलत किया गया है। मूल शास्त्रीय वचन अपना विशिष्ट अर्थ रखते हैं। उनमें ग्रह नक्षत्रों की भिन्न-भिन्न परिभ्रमण गति तथा ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से ही यह युग-गणना है।

जितने समय में सूर्य अपने ब्रह्मांड की एक परिक्रमा पूरी कर लेता है, उसी अवधि को चार बड़े भागों में बाँटकर चार देव युगों की मान्यता बनाई गई और ४ लाख ३५ हजार वर्ष का एक देव युग माना गया। प्रचलित युग-गणना के साथ ताल-मेल बिठाने के लिए छोटे युगों को अंतर्दशा की संज्ञा दे दी गई और उसी कारण वह भ्रम उत्पन्न हुआ। अन्यथा मनुस्मृति, लिंग पुराण और भागवत आदि ग्रंथों में जो युग-गणना प्रस्तुत की गई है, वह सर्वथा भिन्न ही है। मनुस्मृति में कहा गया है—

**ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।**
**एकैकशो युगानांतु क्रमशस्तन्निबोधत।।**
**चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।**
**तस्य तावत् शती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः।।**
**इतरेषु ससंध्येषु स संध्यांशेषु च त्रिषु।**
**एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च।।**

(मनु. १। ६८-७०)

अर्थात्—ब्रह्माजी के अहोरात्र में सृष्टि के पैदा होने और नाश होने में जो युग माने गये हैं, वे इस प्रकार हैं—चार हजार वर्ष और उतने ही शत अर्थात् चार सौ वर्ष की पूर्व संध्या और चार सौ वर्ष की उत्तर संध्या, इस प्रकार कुल ४८०० वर्ष का सतयुग इसी प्रकार तीन हजार छह सौ वर्ष का त्रेता, दो हजार चार सौ वर्ष का द्वापर और बारह सौ वर्ष का कलियुग।

हरिवंश पुराण के भविष्य पर्व में भी युगों का हिसाब इसी प्रकार बताया गया है।

लिंग पुराण तथा श्रीमद् भागवत में भी इसी प्रकार की युग गणना मिलती है। भागवत के तृतीय स्कंध में कहा गया है—

**चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।**
**संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च।।**

(भाग. ३।११।१६)

अर्थात्—चार, तीन, दो और एक ऐसे कृतादि युगों में यथा क्रम द्विगुण सैकड़े की संख्या बढ़ती है। आशय यही है कि कृतयुग को चार हजार वर्ष में आठ सौ वर्ष और जोड़कर ४८०० वर्ष माने गये। इसी प्रकार शेष तीनों युगों की कालावधि समझी जाये। कुछ स्थानों पर मनुष्यों के व्यवहार के लिए बारह वर्ष का एक युग भी माना गया है, जिसको एक हजार से गुणा कर देने पर देवयुग होता है, जिसमें चारों महायुगों का समावेश हो जाता है। इस बारह वर्ष के देवयुग को फिर एक हजार से गुणा करने पर १ करोड़ २०

लाख वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन हो जाता है, जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति और लय हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इसी युग की बात कही है—

**सहस्र युगपर्यन्त मर्ह्यद् ब्रह्मणो विदुः।**
**रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्र-विदोजनाः।।**

(८।१७)

इन गणनाओं के अनुसार हिसाब फैलाने से पता चलता है कि वर्तमान समय संक्रमण काल है।

संक्रमण बेला में किस प्रकार की परिस्थितियाँ बनती हैं ? और कैसे घटनाक्रम घटित होते हैं ? इसका उल्लेख महाभारत के वनपर्व में इस प्रकार आता है—

**ततस्तु मूले संघाते वर्तमाने युग क्षये।**
**यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्ये बृहस्पतिः।।**
**एक राशौ समेष्यन्ति प्रवर्त्स्यति तदा कृतम्।**
**कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च।।**
**क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम्।।**

अर्थात्—जब एक युग समाप्त होकर दूसरे युग का प्रारंभ होने को होता है, तब संसार में संघर्ष और तीव्र हलचल उत्पन्न हो जाती हैं। जब चंद्र, सूर्य, बृहस्पति तथा पुष्य नक्षत्र एक राशि पर आयेंगे, तब सतयुग का शुभारंभ होगा। इसके बाद शुभ नक्षत्रों की कृपा-वर्षा होती है। पदार्थों की वृद्धि से सुख-समृद्धि बढ़ती है। लोग स्वस्थ और प्रसन्न होने लगते हैं।

इस प्रकार का ग्रह-योग अभी कुछ समय पहले ही आ चुका है। अन्यान्य गणनाओं के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि युग परिवर्तन का ठीक यही समय है। ठीक इन्हीं दिनों युग बदलना चाहिए।

युग संधि के मध्य क्या कुछ घटित होने वाला है ? इस संदर्भ में संसार भर के दिव्यदर्शियों का प्रायः एक मत है। वे इस

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—(१) प्रस्तुत २० वर्ष की अवधि मनुष्य जाति के लिए असाधारण कठिनाइयों से भरी रहेगी। (२) इन्हीं दिनों उज्ज्वल भविष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी। ऐसे महामानव उभरेंगे, जो वर्तमान परिस्थितियों का उलटने का पराक्रम कर सकें। (३) इस अवधि में भारत की भूमिका महान होगी। वह अपने आध्यात्मिक पुनरुत्थान और संसार के नव-निर्माण में प्रवृत्त होगा और सफल रहेगा, यह तीनों संभावनाएँ किस प्रकार चरितार्थ होती हैं, इसे अपनी पीढ़ी के लोग इन्हीं आँखों से देख सकेंगे।

उज्ज्वल भविष्य की संभावना और उसमें भारत की महान आध्यात्मिक भूमिका के संबंध में भी दिव्यदर्शियों की उतनी ही प्रगाढ़ मान्यता है, जितनी कि विपत्ति की संभावनाओं के संबंध में।

दिव्यदर्शी आत्मवेत्ताओं ने समय-समय पर जो अपने मंतव्य दिये हैं, उनमें कीरो, जूलवर्न, प्रो. हरार, चार्ल्स क्लार्क, बोरिस्का, डीक्सन, बेजीलेटिन, रामास्वामी अय्यर, गोपीनाथ चुलैट, एंडरसन, गेरार्ड क्राइसे, श्री आनंदाचार्य, जार्ज बाँवेरी, आहेरी, अमाया, मदर शिफ्टन के नाम प्रमुख हैं। करीब-करीब सभी का मत है कि सन् २००० के अंतिम बीस वर्ष बड़े महत्त्वपूर्ण होंगे। व्यापक उथल-पुथल होगी और एक अभिनव दुनिया का सृजन होगा। इन्हीं भविष्यवेत्ताओं में एक और ऐसे मनीषी का नाम आता है, जो पेशे से तो चिकित्सक था, पर जिसे भविष्य-दर्शन की विलक्षण क्षमता प्राप्त थी। सोलहवीं शताब्दी के फ्रेंच चिकित्सक एवं खगोलविद् नोस्ट्राडैमस ने इस सदी के संबंध में जो भविष्यवाणियाँ की हैं, वे अभी तक सौ फीसदी सही उतरी हैं। उनका कथन है कि—

"समृद्धि और पुनर्निर्माण की प्रवृत्तियाँ १९७० से ही जन्म लेने लगेंगी। ये प्रवृत्तियाँ १९९९ के अंतिम युद्ध के बाद, जिसमें चीन का अधिसंख्य भाग नष्ट हो जायेगा, ही प्रखर स्वरूप लेंगी। भारत से आरंभ होने वाली ये सृजनात्मक गतिविधियाँ एक नये सुसंस्कृत विश्व को जन्म देंगी। इसे प्रलय के बाद का नव-निर्माण कह सकते हैं।"

युगांतरकारी शक्ति कोई राजसत्ता नहीं होगी, वे अंतःकरण को स्पर्श करने वाली भाव-वृत्तियाँ-उच्चस्तरीय आदर्शवादी उमंगें होंगी। जब सारे विश्व से चरित्र उठ जायेगा, नास्तिकवादी, भौतिकवादी लिप्साओं में रस लेने वाली विचारधारा ही व्याप्त होगी, ऐसे में एक उत्कृष्टतावादी मानवता के कल्याण का व्रत लेकर आने वाली सत्ता घर-घर व्यक्तियों के अंतःकरण में एक संघर्ष छेड़ देगी। लोग आसुरी वृत्तियों को त्यागेंगे और संसार स्वर्गोपम बनेगा।

प्रो. कीरो का कथन था—'भारतवर्ष का सूर्य ग्रह बलवान है और कुंभ राशि पर है। उसका अभ्युदय संसार की कोई ताकत नहीं रोक सकती।' "विशुद्ध धर्मावलंबी नीति के एक सशक्त व्यक्ति के भारतवर्ष में जन्म लेने का योग है। यह व्यक्ति सारे देश को जगाकर रख देगा। उसकी आध्यात्मिक शक्ति दुनिया भर की तमाम भौतिक शक्तियों से समर्थ होगी, बृहस्पति का योग होने के कारण ज्ञान क्रांति की संभावना है, जिसका असर सारी दुनिया में पड़े बिना रहेगा नहीं।"

भविष्य-वक्ताओं में प्रो. हरार अनन्यतम हैं। इस धार्मिक इजरायली नागरिक को यूरोप-अफ्रीका में देवदूत की संज्ञा प्राप्त है।

प्रो. हरार ने भविष्य के बारे में जो कथन प्रकाशित किये हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

सन् १९८० से २००० तक का समय भारतवर्ष के लिए अत्यंत श्रेष्ठ तथा उन्नतिदायक है।

१९८५ तक भारतवर्ष अनेक वैज्ञानिक शस्त्रों का निर्माण करेगा और एक प्रचंड शक्ति बनकर उभरेगा।

भारत में एक ऐसा व्यक्ति पैदा हो गया है, जो कि भविष्य में संपूर्ण विश्व का मार्गदर्शन करेगा।

श्रीमती जीन डिक्सन की आगामी दिनों से संबंधित ये भविष्यवाणियाँ जो पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं, विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

भारत में १९७५ के बाद तीव्र घटना चक्र गतिशील होगा और वह भौतिक, आध्यात्मिक तथा राजनैतिक दृष्टि से तीव्रता से प्रगति करेगा।

पश्चिम में ईश्वर तथा धर्म पर आस्था बढ़ेगी। लोग अति भौतिक जीवन से विरक्ति का अनुभव करेंगे तथा धार्मिक आध्यात्मिक जीवन जीने की दिशा में प्रयासरत होंगे।

भारत के एक ग्रामीण परिवार में जन्मा-पला व्यक्ति अपने विचारों और कार्यों से सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेगा। वह गाँधीजी की तरह विश्व का मार्गदर्शन करेगा।

गेरार्ड क्राइसे ने लिखा था। 'मैं देख रहा हूँ कि पूर्व के एक अति प्राचीन देश (भारत) में एक ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ है, जो सारे विश्व के कल्याण की योजनाएँ बनायेगा। इस बीच संसार में भारी उथल-पुथल होगी, भयंकर युद्ध होंगे, जिसमें कुछ देशों का तो अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। वायु दुर्घटनाएँ इतनी अधिक होंगी कि लोग हवाई जहाजों पर बहुत सीमित संख्या में चला करेंगे। उस व्यक्ति के पीछे सैकड़ों लोग जिनमें स्त्रियाँ बहुत अधिक संख्या में होंगी, चल रहे होंगे। वह सब लोग एक स्थान के न होकर सारे देश से इकट्ठे होंगे और आग जलाकर (यज्ञ) उसमें कोई सुगंधित वस्तुएँ डालकर खुश होंगे। उसके धुएँ से वायुमंडल शुद्ध होगा, तमाम संसार के लोग उधर देखेंगे और उसकी बात मानेंगे। सब राजनैतिक नेता एक मंच पर इकट्ठे होने को विवश होंगे। इन सब बातों के प्रमाण इसी शताब्दी के अंत तक मिलने लगेगा और फिर सारा संसार एक सूत्र में बँधता चला जायेगा उसमें सर्वत्र अमन चैन होगी।"

—आर्थर चार्ल्स क्लार्क के अनुसार 'एशिया के किसी देश (भारतवर्ष की ओर संकेत) से कुछ ही दिनों में एक प्रचंड विचार क्रांति उठने वाली है। वह १९७१ तक उस देश और उसके १० वर्ष बाद सारे विश्व में इस तरह गूँज जायेगी कि मानव का सोया अंतःकरण जागने को विवश हो जायेगा। आज जिन शक्तियों की

ओर लोगों का ध्यान भी नहीं जाता, तब वह शक्तियाँ जन-जन की शोध और अनुभूति का विषय बन जायेंगी। विज्ञान एक नई मोड़ लेगा, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रचुरता होगी। सारे ब्रह्मांड को एक सूत्र में बाँधने का आधार यह आध्यात्मिक सिद्धियाँ और सामर्थ्य ही होंगी।'

हालैंडवासी पीटर हरकोस को बीसवीं शताब्दी का महानतम भविष्यवक्ता कहा जाता है, क्योंकि उनकी सभी भविष्यवाणियाँ अपने समय पर सही सिद्ध हुई हैं। आगामी भविष्य के विषय में उनका कहना है—

भारत का उदय वृहत्तर भारत के रूप में होगा। वहाँ से आध्यात्मिकता की एक प्रचंड लहर उठेगी। यह लहर संपूर्ण विश्व पर अपना प्रभाव डालेगी। लोग भारत से उठने वाली इस आध्यात्मिक धारा से अभिभूत होकर, उसी दिशा में बढ़ेंगे और तब सुखी, संपन्न, एकात्म, विश्व-समाज का उदय तथा विकास होगा। प्रत्येक मनुष्य में देवत्व का उदय होगा और धरती स्वर्ग बन उठेगी।

जूलवर्न कहते हैं कि—जैसा कि मुझे आभास होता है कि यह आध्यात्मिक क्रांति भारतवर्ष से ही उठेगी। उसके संचालन के बारे में मेरे विचार जीन डिक्सन से भिन्न यह है कि वह व्यक्ति सन् १९६२ से पूर्व जन्म ले चुका है। इस समय उसे भारतवर्ष में किन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों में संलग्न होना चाहिए। यह व्यक्ति भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भी रहा होना चाहिए और उसके अनुयायियों की बड़ी संख्या भी है। उसके अनुयायी एक समर्थ संस्था के रूप में प्रकट होंगे और देखते ही देखते सारे विश्व में अपना प्रभाव जमा लेंगे और असंभव दीखने वाले परिवर्तनों को आत्म-शक्ति के माध्यम से सरलतापूर्वक संपन्न करेंगे।

मिश्र की एक बहुत प्राचीन मीनार पर यह भविष्यवाणी अंकित है, जिसमें कहा गया है कि चौदहवीं सदी बीत जाने पर (हिजरी सन् के अनुसार चौदहवीं सदी अब बीत चुकी है) कयामत

आयेगी अर्थात् भीषण विनाश और संघर्ष उत्पन्न होगा। इसी मीनार पर जल्द ही एक नया जमाना आने की बात भी लिखी है, जिसमें सत्य ही धर्म होगा, न्याय ही कानून होगा, सारी पृथ्वी के लोग एक परिवार की तरह रहेंगे तथा कोई किसी से बैरभाव नहीं रखेगा। सब ओर सुख-शांति रहेगी, किंतु इससे पहले भयंकर युद्ध, अकाल और प्राकृतिक प्रकोप इतने सघन होंगे कि संसार की आबादी का एक बड़ा भाग नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। इस नये युग का आरंभ थोड़े से लोगों के द्वारा किये जाने की भविष्यवाणी भी उस मीनार पर अंकित है।

मक्का के हमीदिया पुस्तकालय में रखा "अल्कश्फ बल्कत्मफी मार्फत" तथा अरबी की पुस्तक "मालावृद कब्लुत कयामत" में भी १४वीं सदी में व्यापक क्रांति, संघर्ष और युग परिवर्तन का संकेत है। सूरदास जी ने अपने एक पद में अपने अतींद्रिय ज्ञान के आधार पर लिखा था—

**एक सहस्र नौ सौ के ऊपर ऐसो योग परै।**
**सहस्र वर्ष लों सतयुग बीते धर्म की बेलि बढ़ै।।**

अर्थात्—संवत् १६०० के बाद संसार में परिवर्तन के योग हैं। इस महा-परिवर्तन के बाद संसार में धर्म की बेलि बढ़ेगी और हजारों वर्ष तक सतयुग फले-फूलेगा।

**द्विजाति पूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति।**
**दैवःकालान्तरेऽन्यस्मिन्पुनर्लोकविवृद्धये।।**

—महाभारत

अर्थात्—युग परिवर्तन के इस संधिकाल में द्विजन्म संस्कार संपन्न आदर्शवादी व्यक्तियों का उत्थान होगा और भगवान फिर से संसार को सुख-समुन्नति की ओर अग्रसर करेंगे।

बरार के विद्वान ज्योतिषी श्री गोपीनाथ शास्त्री चुलैट ने एक रात स्वप्न देखा कि "नये युग का आविर्भाव सन्निकट है।" उठकर उन्होंने उस स्वप्न समय की कुंडली बनाई।

इस लग्न कुंडली को बनाने और अध्ययन कर इन निष्कर्षों पर पहुँचने के बाद शास्त्री जी ने 'युगपरिवर्तन' नामक एक पुस्तक लिखी, जो अकोला (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने ज्योतिष गणना के आधार पर बताया है कि इन्हीं दिनों युग परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है और इस समय युग-संधि चल रही है, जिसमें पिछले अज्ञानांधकार का अंत और नवयुग की अरूणिमा निरंतर बढ़ती ही जायेगी। यह समय एक ओर जहाँ भारतवर्ष के लिए तीव्र हलचलों, उथल-पुथल और परिवर्तनों का है। वहीं सारे विश्व के लिए भी कम कष्टप्रद नहीं है।

आनंदाचार्य ने लिखा है कि भारत में एक सशक्त आध्यात्मिक संगठन का प्रादुर्भाव होगा, जो वसुधैव कुटुंबकम् का सपना साकार करेगा।

इस संगठन का स्वामी एवं संचालक कोई गृहस्थ व्यक्ति होगा और अब तक दुनिया के सबसे बड़े विचारक के रूप में ख्याति प्राप्त करेगा। वह व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों से लेकर संसार के सब देश शांतिपूर्वक कैसे रहें ? उसकी एक व्यवस्थित आचार संहिता तैयार करेगा। उसके जीवनभर से संग्रहीत विचारों को यदि एक पुस्तक में लिखा जाये, तो वह पुस्तक १०० पौंड वजन से अधिक होगी। उस समय तो लोग आश्चर्य करेंगे कि आज के भौतिक युग में इन विचारों का क्या उपयोग ? पर कालांतर में वे विचार ही विश्व का मार्गदर्शन करेंगे। उसकी तैयार की गई आचार संहिता बाइबिल तथा इंजील की तरह पूजी जायेंगी।

इस युग के मसीहा और निष्कलंक अवतार पर दक्षिण के प्रसिद्ध संत और भविष्यवक्ता रामन स्वामी अईय्यर के कथन अभी तक हुए भविष्य कथनों में से सबसे अधिक स्पष्ट हैं। श्री अईय्यर लिखते हैं—कल्कि न तो घोड़े पर चढ़ा हुआ आयेगा और न तलवार लेकर, तो भी यह दोनों प्रतीक ही उसकी पहचान के माध्यम होंगे। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है, उस पर कल्कि के आसीन होने का अर्थ है कि वह इतना समर्थ व्यक्ति होगा कि 'शक्ति' उसकी

इच्छानुसार कार्य करेगी। राम ने अपनी शक्ति को हठात् रावण जैसे तांत्रिक पर भी थोप दिया था। कृष्ण अवतार थे, क्योंकि उनकी शक्ति के आगे कौरव-पांडव तक थर्राते थे। अपने युद्ध-अहंकार को व्यक्त करना अवतार का ही काम है और उनकी यह पहचान होती है कि संसार के शेष सभी बुद्धिमान से बुद्धिमान और बलवान लोग भी उनकी शक्ति से नीचे पड़ जाते हैं। घोड़े का यही अर्थ है कि वह इतिहास का प्रबलतम शक्तिशाली व्यक्ति होगा।

तलवार का अर्थ काटना है। शत्रु के सिर ही नहीं काटे जाते, विचार भी काटे जाते हैं। कल्कि पुराण से भी प्रकट है कि कल्कि बौद्धों अर्थात् उन लोगों के बुद्धिवाद से युद्ध करेगा, जो आज के युग में देखने में बहुत शिक्षित लगते हैं, पर वे पदार्थ से परे कुछ सोच ही नहीं पाते। नास्तिकवादी, भोगवादी, संचय और उपयोगितावादी व्यक्तियों की ऐसी मान्यताओं का जो निराकरण करेगा, वही कल्कि होगा।

मूर्धन्य विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये उपरोक्त प्रतिपादनों से उसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है, जिसे अदृश्य जगत् से संबद्ध ऋषि कल्प देवात्माओं ने अपनी अंतःचेतना एवं दैवी प्रेरणा से जाना है। वे स्पष्ट देखते हैं कि युग बदलने के वे सभी कारण मौजूद हैं, जिनमें भगवान अवतार लेते और अनुपयुक्त के अनाचारों को उलट कर उसके स्थान पर औचित्य की नीति-निष्ठा पुनः प्रतिष्ठापित करते हैं। मानसून उठते देखकर जल्दी ही वर्षा होने की परिकल्पना हर समझदार कर सकता है। इन दिनों के अवांछनीय प्रचलनों के फलस्वरूप उत्पन्न असंतुलन से अंतरिक्ष में विक्षोभ उबल रहा है। युगांतरीय चेतना तूफानी परिवर्तन साथ लेकर आ रही है। दूसरी ओर अंधकार को चुनौती देने वाला प्रभात भी इसी उषाकाल में अपने आगमन की जानकारी दे रहा है।

❐ ❐

# (अ) जाग्रत् आत्माओं की प्रस्तुत वेला में मूर्धन्य भूमिका

कुछ ऐसे अवसर आते हैं, जो व्यक्ति को, अजर-अमर बना देते और श्रेय-सम्मान तथा लोकश्रद्धा के पात्र बना डालते हैं। यों तो साहस, शौर्य और पराक्रम का परिचय चोर और डाकू भी देते हैं, कितने ही संघर्षों में मारे भी जाते हैं, किंतु उन्हें कौन बहादुर और साहसी कहता है ? दूसरी ओर देश की बलिवेदी पर अपनी आहुति दे देने वाले सीमा-प्रहरी, सैनिकों को असाधारण श्रेय और सम्मान मिलता है। उनके कीर्ति स्तंभ बनते हैं, साहस, त्याग और बलिदान के अविस्मरणीय उदाहरण के लिए वीरता के अनेकों 'चक्र' प्रदान किये जाते हैं। उनकी कीर्ति इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णिम अक्षरों में लिखी जाती है। स्वार्थों के दल-दल में पड़े, उनकी आपूर्ति के लिए दुस्साहस का प्रदर्शन करने वाले आततायियों को कौन याद करता है ? उन्हें तो घृणा और तिरस्कार का ही भाजन बनना पड़ता है।

युगों-युगों के बाद जब परिस्थितियाँ अत्यधिक जटिल हो जाती हैं, मानवीय पुरुषार्थ उन्हें सुलझा पाने में असमर्थ सिद्ध होता है, तो महाकाल का दिव्य प्रेरणा-प्रवाह उनके अनुकूलन के लिए उमड़ पड़ता है। महापुरुषों का, अवतारों का प्रकटीकरण ऐसे ही अवसरों पर होता है, ये अवसर विशिष्ट होते हैं। जो इसको समझते और अपनी क्षमताओं को दैवीय प्रयोजन में नियोजित करने के लिए उस दिव्य प्रेरणा प्रवाह में बहने के लिए स्वयं को मुक्त छोड़ देते हैं—वे धन्य हो जाते हैं, अजर और अमर बन जाते हैं। आगा-पीछा सोचने वाले, प्रेरणा-प्रवाह को न समझने वाले उस महत् प्रयोजन में सहयोग से कन्नी काटते रहने वाले, व्यक्ति अंततः घाटे में रहते हैं

और उस ऐतिहासिक श्रेय से वंचित रह जाते हैं, जो अल्प प्रयासों द्वारा संभव था।

विगत अवतारों में उनके सामयिक सहयोगियों का अविस्मरणीय अनुदान रहा है। राम अवतरण में लक्ष्मण, हनुमान, अंगद, विभीषण, सुग्रीव, नल-नील जैसे बलिष्ठ और सामान्य रीछ-वानरों जैसे कनिष्ठ समान रूप से सहगामी रहे हैं। गिद्ध, गिलहरी जैसे अकिंचनों ने भी सामर्थ्यानुसार भूमिका निभाई है। कृष्णकाल में पांडवों से लेकर ग्वालबालों तक का सहयोग साथ रहा है। बुद्ध के भिक्षु और गाँधी के सत्याग्रही कंधे से कंधा मिलाकर जुटे और कदम से कदम मिलाकर चले हैं। भगवान सर्व समर्थ हैं, वे चाहें तो उँगली की नोंक पर पर्वत उठा सकते हैं और वाराह, नृसिंह की तरह अकेले ही अभीष्ट प्रयोजन पूरे कर सकते हैं, किंतु प्रयोजनों को श्रेय देना भी अवतार का एक बड़ा काम है। शबरी और कुब्जा जैसी महिलाओं और केवट और सुदामा जैसे पुरुषों को भी अवतार के सखा-सहचर होने का लाभ मिला। गाँधी के सान्निध्य में विनोबा और बुद्ध के सहचर आनंद जैसे असंख्यों को श्रेय मिला था। भगवान के अनन्य भक्तों में से नारद जैसे देवर्षि, वशिष्ठ जैसे महर्षि और विभीषण जैसे अगणितों को अविच्छिन्न यश पाने का अवसर मिला है। सहकारिता को, संगठन को, सर्वोपरि शक्ति के रूप में प्रतिपादित करने के लिए महान शक्तियाँ सदा ही यह प्रयत्न करती रही हैं कि जाग्रतों को महत्त्वपूर्ण अवसरों पर अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के लिए उभारा जाय। अर्जुन के साथ तो इसके लिए भर्त्सना जैसे उपाय बरते गये थे। सुग्रीव को धमकाने को लक्ष्मण पहुँचे थे। परमहंस विवेकानंद को घसीटकर आगे लाये थे। अंबपाली, अंगुलिमाल, हर्षवर्धन और अशोक से जो लिया गया था, उससे असंख्य गुना उन्हें लौटाया गया था। भामाशाह के सौभाग्य पर कितने ही धनाध्यक्ष ईर्ष्या करते रहते हैं।

भगतसिंह और सुभाष जैसा यश मिलने की संभावना हो तो उस मार्ग पर चलने के लिए हजारों आतुर देखे जाते हैं। समझाया

जाये तो कितने ही केवल बिना उतराई लिये पार उतारने की प्रक्रिया पूरी कर सकते हैं। पटेल और नेहरू बनने के लिए कोई भी अपनी वकालत छोड़ सकता है, पर दुर्भाग्य इतना ही रहता है कि समय को पहचानना और उपयुक्त अवसर पर साहस जुटाना उनींदे लोगों से बन ही नहीं पड़ता। जागरूक ही हैं—जो महत्त्वपूर्ण निर्णय करते, साहसिकता अपनाते और अविस्मरणीय महामानवों की पदवी प्राप्त करते हैं।

चंदन के समीप उगे झाड़-झंखाड़ों के सुगंधित बन जाने और उसी मूल्य में बिकने की किंवदंती प्रख्यात है। पानी के दूध में मिलकर उसी भाव बिकने की उक्ति आये दिन दुहराई जाती है। पारस को छूकर काले, कुरूप और सस्ते मोल वाले लोहे का सोने जैसे गौरवास्पद बहुमूल्य धातु में बदला जाना प्रख्यात है। स्वाति की बूँदों से लाभान्वित होने पर सीप जैसी उपेक्षित इकाई को मूल्यवान मोती प्रसव करने का श्रेय मिलता है। पेड़ से लिपटकर चलने वाली बेल उसी के बराबर ऊँचे जा पहुँचती और अपनी प्रगति पर गर्व करती है। जबकि वह मात्र जमीन पर ही थोड़ी दूर तक बढ़ सकती है, उसकी दुर्बल काया को देखते हुए इतने ऊँचे चढ़ जाने की बात किसी प्रकार समझ में नहीं आती, किंतु पेड़ का सान्निध्य और लिपट पड़ने का पुरुषार्थ जब सोना-सुहागा बनकर समन्वय बनाते हैं, तो उससे महान पक्ष की तो कुछ हानि नहीं होती पर दुर्बल पक्ष को अनायास ही दैवी वरदान जैसा लाभ मिल जाता है।

यह उदाहरण उस सुयोग का महत्त्व समझाने के लिए दिये जा रहे हैं, जिसमें महानता के साथ संपर्क साधना, उसके सहयोग का सुयोग पा लेना भी कई बार अप्रत्याशित सौभाग्य बनकर सामने आता है। यों वैसे अवसर सदा-सर्वदा हर किसी के लिए उपलब्ध नहीं रहते।

रामचरित्र के साथ जुड़ जाने पर कितने ही सामान्य स्तर के प्राणियों ने सामान्य क्रिया-कलापों के सहारे असामान्य श्रेय पाया।

इस तथ्य को सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। बंदर स्वभावतः इधर-उधर लकड़ी-पत्थर फेंकते रहते हैं, समुद्र पर पुल बनाने में प्रायः इतनी ही कूद-फाँद उन्हें करनी पड़ी होगी, पर उसे सुयोग ही कहना चाहिए कि उतनी छोटी-सी उदार श्रमशीलता को ऐतिहासिक बना दिया और कथावाचक उसकी भाव-भरी चर्चा करते-करते हारते नहीं, ऐसे आदर्शवादी सहयोगों की सफलता में कर्त्ताओं का पुरुषार्थ ही नहीं—दैवी सहायता भी काम करती है और श्रेय उन अग्रगामी साहसियों के पल्ले बँध जाता है। नल-नील ने समुद्र पर पुल बनाया और पत्थर पानी पर तैरने लगे। इस प्रकार के घटनाक्रम सामान्य स्थिति में देखे नहीं जाते किंतु दैवी प्रयोजनों में दैवी सहायता की असाधारण मात्रा उपलब्ध होती है।

ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति के लिए कैसा जीवन-क्रम अपनाया जाना चाहिए, इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं—पवनपुत्र हनुमान। उन्हें राम के निकटतम आत्मीयों में गिना गया है। राम पंचायतन में कुटुंब की दृष्टि से तो चारों भाई तथा सीता मिलकर पाँच होते हैं, पर स्थापनाओं में हनुमान को भी रखा गया है और राम पंचायतन होते हुए भी उसके सदस्यों की संख्या पाँच न रहकर छह हो जाती है; जबकि हनुमान रघुवंशी तो क्या मनुष्य वंशी भी नहीं थे।

पवनपुत्र की चरम उपलब्धि है—रामावतार का निकटतम ही नहीं, उसका सूत्र संचालक बन जाना। इस वस्तुस्थिति का प्रकटीकरण उस चित्र से होता है, जिसमें हनुमान को विशालकाय दिखाया गया है और राम लक्ष्मण उनके दोनों कंधों पर बालकों की तरह दिखाई पड़ते हैं। प्रकारांतर से इसका तात्पर्य होता है, उन उत्तरदायित्वों का परोक्ष रूप से वहन करना, जो प्रत्यक्षतः राम-लक्ष्मण द्वारा निभाये गये समझे जाते हैं। समयानुसार उन्हें इस साहसिक श्रद्धा का सत्परिणाम भी व्यापक कृतज्ञता के रूप में मिला है। भारत में पाये जाने वाले राम मंदिरों की तुलना में हनुमान मंदिरों की संख्या प्रायः दस गुनी अधिक है। इसका तात्पर्य राम के

प्रति अश्रद्धा नहीं, वरन् हनुमान की निष्ठा के प्रति कृतज्ञता का प्रकटीकरण है।

यह उच्चस्तरीय सफलता हनुमान को उपहार-अनुदान में नहीं मिली थी, वरन् उन्होंने उसे महँगा मूल्य देकर खरीदा था। उन्होंने अपने रोम-रोम में राम को बसा लिया था। "राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम" की रट लगी रहती थी और इसके लिए अपनी समग्र चेतना और तत्परता नियोजित किये रहते थे। उनके हृदय में अन्य कोई निजी इच्छा अथवा महत्त्वाकांक्षा न थी। एकात्म की स्थिति में निजी लिप्सा-लालसाएँ विसर्जित करनी पड़ती हैं। सीता को यह वस्तुस्थिति एक बार उन्होंने हृदय चीरकर दिखाई थी।

पवनपुत्र के प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए राम ने अयोध्या लौटने पर गुरु वशिष्ठ के सम्मुख अपनी समस्त सफलताओं का श्रेय हनुमान को देते हुए, उन्हें भरत की तरह प्राण-प्रिय बताया था। यह उभयपक्षीय आत्मीयता इतनी सघन कैसे हो सकी ? इसमें भावुकता का उभार या अनुग्रह जैसा कोई कारण नहीं था। उसके मूल में साधना का चमत्कार था, जो इष्टदेव का ध्यान-पूजन करने तक सीमित नहीं रहती, वरन् उसकी इच्छा में अपनी इच्छा का समर्पण करके अपने साधनों को उसी की पूर्ति में खपा देती है। राम पंचायत में अन्य सदस्य वस्त्राभूषण पहने सम्मानित स्थान पर बैठे दृष्टिगोचर होते हैं, पर पवनपुत्र के शरीर पर लज्जावस्त्र की तरह लंगोटी मात्र है और उनने अपना स्थान सबसे नीचे चरणों के समीप बैठने का बनाया है।

राम से हनुमान का संपर्क जिस दिन से हुआ; उस दिन से जीवनपर्यंत वे उन्हीं के छोटे-बड़े कार्यों की पूर्ति में अहर्निश लगे रहे। उन सभी कृत्यों की गणना कर सकना तो कठिन है, पर पाँच उनमें प्रमुख हैं—(१) सुग्रीव को अपनी समस्त सेना राम-काज में नियोजित करने के लिए सहमत कर लेना। (२) सीता को खोजे बिना वापिस न लौटने का प्राण-प्रण संकल्प करना और उसे निभाना। (३) समुद्र लाँघने और लंका दहन का एकाकी दुस्साहस

करना। (४) लक्ष्मण को पुनजीर्वित करने के लिए सुषेण वैद्य को चुराकर लाना ही नहीं, वरन् पर्वत समेत संजीवनी बूटी प्रस्तुत करना। (५) रामराज्य की स्थापना में अश्वमेध सरीखे असंख्य प्रयोजनों की पूर्ति में अंतिम साँस तक लगे रहना। ऐसे-ऐसे अन्यान्य कार्य भी हैं, जिनकी पूर्ति में सर्वतोभावेन निरत रहकर उन्होंने श्रेय पाया, जिसे "राम से अधिक राम के दास" वाली उक्ति में रामायणकार ने प्रकट किया है।

पवनपुत्र जैसा अनुग्रह उन सभी को मिल सका, जिन्होंने राम की गरिमा को, उनके लीला क्रम को सहयोग देने की परिणति की पूर्व कल्पना कर ली। वयोवृद्ध जामवंत और जटायु, अकिंचन गिलहरी, दरिद्र केवट और शबरी की सामर्थ्य भूमिकाओं को देखा जाये तो उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुदान अकिंचन जितने ही कहे जा सकते हैं। इतने पर भी उनकी गाथाएँ अजर-अमर बन गईं। वे श्रेयाधिकारी बने और अपने उदाहरणों से असंख्यों को भावभरी प्रेरणाएँ दे सकने में समर्थ हुए। इस सौभाग्य भरी उपलब्धि में प्रमुख श्रेय उस सूझ-बूझ को है, जिसने अपनी श्रद्धा-सहायता को महान व्यक्तित्व और महान अवसर के साथ जोड़कर लाखों गुना अधिक श्रेय कमाया।

कृष्ण चरित्र पर दृष्टिपात करने से भी यह तथ्य असाधारण रूप से उभरकर आगे आता है। गोपियों का छाछ पिलाना, थोड़ी-सी हँसी-ठिठोली कर देना, ग्वाल-बालों का लाठी का सहारा जैसे कृत्य ऐसे नहीं हैं, जिन्हें दैनिक जीवन में सर्वत्र घटित होते रहने वाले सामान्य उपक्रमों से भिन्न समझा जा सके। इतने पर भी वे सहयोग पुराण उपाख्यानों में बहुत बार सराहे जाते रहते हैं। जब इंद्र के प्रकोप के कारण बृज-प्रदेश जलमग्न हुआ जा रहा था। सामान्य बुद्धि उस दशा में भाग खड़े होने के अलावा कोई उपाय सोच ही नहीं सकती थी। लेकिन उन परिस्थितियों में असंभव को संभव करने वाला साहस उभरा तथा ग्वाल-बाल शिलाखंडों को दूर-दूर से समेटकर हाथ और लाठियों के सहारे लगाने लगे। इस प्रकार

विशालकाय बाँध बनाया गया और बाँध तथा वर्षा से होने वाली हानि टल गयी। इंद्र की हार हुई और मनुष्य जीत गया। असंभव लगने वाला काम संभव हुआ और गोवर्धन पर्वत उठ गया। श्रम शक्ति के नियोजन से सृजन का सत्परिणाम प्रत्यक्ष हुआ।

सामान्यतया ऐसा बड़ा काम किसी सुसंपन्न और समर्थ शासन तंत्र द्वारा ही संभव हो सकता था। गरीब और साधनहीन लोगों में न तो इतना ज्ञान होता है और न अनुभव ही। सामान्य बुद्धि इस प्रकार के दुस्साहस में अनर्थ होने का ही निष्कर्ष निकालती है, ऐसे झंझट या उलझन से दूर रहने का ही परामर्श देती है। इसके विपरीत महान उद्देश्य के लिए जोखिम भरे दुस्साहस के लिए कटिबद्ध हो जाना आदर्शवादिता का ही काम है। इस स्तर की प्रेरणा प्रज्ञा-शक्ति के अलावा और कोई नहीं दे सकता।

अनेकों योद्धा लड़ते और हारते-जीतते रहते हैं, पर अर्जुन, भीम जैसों को जो श्रेय मिला, उससे उनकी गरिमा असामान्य हो गयी। अर्जुन भीम वे ही थे, जिन्हें वनवास के समय पेट भरने के लिए और जान बचाने के लिए बहुरूपिये बनकर दिन गुजारने पड़े थे। द्रौपदी को निर्वसन होते आँखों से देखने वाले पांडव, यदि वस्तुतः महाभारत जीत सकने जैसी समर्थता के धनी रहे होते तो न तो दुर्योधन, दुशासन वैसी धृष्टता करते और न पांडव ही उसे सहन कर पाते। कहना न होगा कि पांडवों की विजयश्री में उनकी वह बुद्धिमत्ता ही मूर्धन्य मानी जायेगी, जिसमें उन्होंने कृष्ण को अपना और अपने को कृष्ण का बनाकर भगवान से घोड़े हँकवाने जैसे छोटे काम कराने को विवश कर दिया था। यदि वे वैसा न कर पाते और अपने बलबूते जीवन गुजारते तो स्थिति सर्वथा भिन्न होती और यायावरों की तरह जैसे-तैसे जिंदगी व्यतीत करते।

सुदामा की कृष्ण से सघन मित्रता जमा सकने की दूरदर्शिता ही उन्हें मित्र के समतुल्य बना देने का श्रेय दिला सकी। 'कृष्ण-सुदामा' की संयुक्त चर्चा अनेकानेक अवसरों पर होती रहती

है। कोई कृष्ण की उदारता को, कोई सुदामा की गौरव-गरिमा को प्रधानता देते हैं। जो हो, दोनों का समन्वय रहा तो ऐसा ही जिसमें महानता का सान्निध्य-समन्वय अपनी चमत्कारी परिणति सिद्ध कर सके।

बुद्ध के समय जन-मानस बुरी तरह कुत्साओं और कुंठाओं के पाप-पंक में फँसा हुआ था। पुरोहित वर्ग अनाचार के इन दुर्दिनों में समाज को प्रतिगामी प्रेरणा-भाव दे रहा था। वातावरण में छाई दोहरी प्रतिकूलता के कारण शुभ परिवर्तन की संभावना क्षीण ही थी। निहित स्वार्थों पर आँच आना विपक्षियों को क्रुद्ध करने जैसा ही था। किसी ने कुछ कसर नहीं छोड़ रखी थी। अंगुलिमाल अहिंसा का प्रतीक बना हुआ था, तो अंबपाली चरित्र हनन की। ऐसी परिस्थितियों को उलट देने वाला वातावरण बनाना निश्चित ही अप्रत्याशित था, पर वह अप्रत्याशित, असंभव संभव होकर ही रहा। लाखों लोग अपने वैभव और सुखों को तिलांजलि देकर परिव्राजक बने और हर वर्ग ने विचार क्रांति में सहयोग दिया, भले ही वह संपन्न रहे हों या निर्धन। आदर्शवादी-पराक्रम उफनता चला गया और प्रतिकूलता, अनुकूलता में बदलती चली गई, न साधनों की कमी रही और न संपत्ति की। परिस्थितियों को देखते हुए यही लगता है, जैसे भगवान ने सारा विधान पहले ही रच रखा था। बुद्ध की क्षमता और परिस्थितियों की विषमताएँ रहते हुए भी, जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हें अवतार लीला के अतिरिक्त और क्या कहा जाए ?

मिस्टर गाँधी का आरंभिक जीवन तथा महात्मा गाँधी का देवोपम वर्चस्व देखकर कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि 'राम काज' में निरत होना, जहाँ आरंभिक असमंजसों से घिरा है, वहाँ उसके अगले ही चरण इतने शानदार हैं, जिनकी तुलना में आरंभिक असमंजस एवं दुस्साहस के लिए किये गये कष्ट सहन को नगण्य ठहराया जा सके।

अंग्रेजों की सामर्थ्य और शक्ति पहाड़ जितनी ऊँची थी। उन दिनों यह कहावत आम प्रचलित थी कि, 'अंग्रेजों के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था, बुद्धि-कौशल में भी उनका कोई सानी नहीं था। फिर निहत्थे मुट्ठी भर सत्याग्रही उनका क्या बिगाड़ सकते थे ? हजार वर्ष से गुलाम रही जनता में भी ऐसा साहस नहीं था कि इतने शक्तिशाली साम्राज्य से लोहा ले सकें और त्याग-बलिदान कर सकें। ऐसी निराशापूर्ण परिस्थितियों में फिर भी एक अप्रत्याशित उभार उमड़ा और स्वतंत्रता संग्राम छिड़ा, यही नहीं अंततः वह विजयी होकर रहा।'

उस संग्राम में सर्वसाधारण ने जिस पराक्रम का परिचय दिया, वह देखते ही बनता है। असमर्थों की समर्थता और साधनहीनों के साधन तथा असहायों की सहायता के लिए न जाने कहाँ से अनुकूलताएँ उपस्थित हुईं और असंभव लगने वाला लक्ष्य पूरा होकर रहा। सूक्ष्म जगत में बहने वाली प्रचंड-शक्ति धाराओं का प्रवाह जो ऊपर से शांत और सामान्य दीखता है किंतु भीतर से ज्वालामुखी जैसी विस्फोट क्षमता रखता है, उसी का यह चमत्कार है। यह विस्फोट जब फूटता है तो सब कुछ उलट जाता है। बुद्धि के लिए अगम्य इसी विलक्षणता को अवतार कहते हैं।

बुद्ध और गाँधी के महान व्यक्तित्वों के संबंध में दो रायें नहीं हो सकतीं, पर इस संदर्भ में इस तथ्य को भी भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि उनके सघन संपर्क में आने वाले असाधारण रूप से लाभान्वित हुए और सौभाग्यशाली बने।

बुद्ध के साथ जुड़ने का साहस न कर पाते तो हर्षवर्धन, अशोक, आनंद, राहुल, कुमार जीव, संघमित्रा, अंबपाली आदि की जीवनचर्या कितनी नगण्य रह गई होती—इसका अनुमान लगा सकना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए। गाँधी के साथ यदि विनोबा, राजगोपालाचार्य, नेहरू, पटेल, राजेन्द्र बाबू आदि न घुले होते—अपना पृथक्-पृथक् वर्चस्व बनाकर चले होते तो वह स्थिति बन नहीं पाती जो बन सकी। नेहरू और लाल बहादुर

शास्त्री की घनिष्ठता प्रसिद्ध है। यदि उस सघनता को ताक पर रख दें और अपने बलबूते उठने-बैठने की बात सोचें, तो फिर परिणाम भी कुछ दूसरे ही स्तर के होने की बात सामने आ खड़ी होगी।

चाणक्य के साथ चंद्रगुप्त, समर्थ के साथ शिवाजी, परमहंस के साथ विवेकानंद की सघनता दोनों पक्षों के लिए कितनी संतोषजनक परिणाम प्रस्तुत कर सकी—इसे कौन नहीं जानता ? मांधाता ने आद्य शंकराचार्य के साथ जुड़कर चारों धाम बनाने का श्रेय पाया। भामाशाह का अनुदान राणा प्रताप के साथ संबद्ध होने पर ही सार्थक हुआ, अन्यथा इतना पैसा तो सेठ-साहूकारों के यहाँ से चोर-ठग भी उठा ले जाते हैं और बेटे-पोतों में, दुर्व्यसनों में उड़ाते-फूँकते देखे जाते हैं। महामानवों के साथ जुड़ जाने पर श्रेय-पथ कितनी द्रुतगति से प्रशस्त होता है, इनके असंख्य उदाहरणों में टिटहरी का वह कण भी सम्मिलित है, जिसमें अगस्त्य ऋषि की सहायता से समुद्र सोखे जाने और अंडे वापस मिलने की घटना कही जाती है।

मुर्गा इसलिए प्रख्यात हुआ कि उसने प्रभात काल के आगमन को सही समय पर पहचाना और उसकी सूचना सर्वसाधारण को देने का साहस जुटाया। अग्रगामी सदा श्रेयाधिकारी होते रहे हैं। प्रभात की प्रथम किरण धारण करने वाले शिखर सबका ध्यान आकर्षित करते हैं। दूज का चंद्रमा पूजा जाता है। संसार भर के आंदोलनों में जो सर्वप्रथम आगे आये, वे प्रख्यात हुए। यों पीछे आने वाले असंख्यों-अविज्ञातों का भी त्याग-बलिदान कम नहीं था। स्वतंत्रता संग्राम में जिन्होंने भाव-भरी भूमिका निभाई वे पेंशन पाने, शासन में उच्चपद पाने के श्रेयाधिकारी बने थे। वह समय निकल जाने के उपरांत कोई उस सौभाग्य को पाना चाहे तो यही कहना पड़ेगा कि समय निकल गया। उनींदे लोग उन दिनों असमंजस की स्थिति में पड़े रहने पर मात्र पश्चाताप ही कर सकते हैं, गाँधी की डांडी यात्रा एवं धरसना के नमक सत्याग्रह का स्मरण सदा ही

किया जाता रहेगा। बाद में तो कितनों ने ही नमक बनाया और कारागार भुगता था।

इन दिनों महाकाल ने आग्रहपूर्वक प्राणवानों को सहयोग देने के लिए बुलाया है। वस्तुतः वह श्रेयाधिकारी बनने का सौभाग्य संदेश भर है। भगवान के काम दिव्य शक्तियाँ—समय के उपक्रम एवं अपनी अदृश्य क्षमता के आधार पर स्वयं ही संपन्न कर लेती है। रीछ, वानर रूठ-मटककर बैठ जाते तो भी सीता-वापसी और लंका की दुर्गति निश्चित थी। ऐसे अवसरों का सबसे बड़ा लाभ वे अग्रगामी उठाते हैं, जो संकीर्ण स्वार्थपरता को छोड़कर समय की माँग पूरी करने के लिए, बिना समय गँवाये अग्रिम मोर्चे पर जा खड़े होते हैं। युग-संधि की प्रस्तुत प्रभातवेला को ठीक ऐसा ही मुहूर्त समझा जाना चाहिए, जिसमें साहसी, सदाशयी छोटे-छोटे कदम बढ़ाने पर भी अत्यधिक श्रेय संचित कर सकने वाले दूरदर्शियों में गिने जायेंगे।

❐ ❐

## (ब) सर्व-साधारण को संभावनाओं के अनुरूप स्वयं को बदलने की चेतावनी

इतिहास के महान परिवर्तनों में ऐसे ही अगणित चमत्कारी पृष्ठ भरे पड़े हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि अग्रगामी लोगों के पुरुषार्थ की तुलना में अवरोधों की शक्ति असंख्य गुनी अधिक थी। फिर भी इस या उस प्रकार अनुकूलता बनती चली गई, परिस्थितियों ने साथ दिया और स्वल्प प्रयासों से उतने बड़े काम संपन्न हो गये, जिन्हें कुछ समय पूर्व सोच सकना तक कठिन था। सफलता से पूर्व कोई यह नहीं कह सकता था कि जो सोचा जा रहा है, उसके इतनी जल्दी इतनी सरलतापूर्वक सफल होने की कोई आशा की जा सकती है।

गीता का कृष्ण-अर्जुन संवाद द्वापर में मुखर हुआ था। पर परिस्थितियों को देखते हुए वह आज के लिए भी उतना ही प्रयुक्त होता है, जितना उन दिनों कारगर सिद्ध हुआ था। भगवान सामंती अनाचार से अस्त-व्यस्त भारतीय समाज को न केवल केंद्रीय सत्ता के अंतर्गत लाना चाहते थे, वरन् सिकुड़-सिकुड़कर छोटे होते जाने वाले भारत को महाभारत—विशाल भारत बनाना चाहते थे। इस प्रयोजन के लिए उन्होंने धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में न केवल युद्ध रचाया था, वरन् विचार विनिमय द्वारा रचनात्मक निर्धारण के लिए विशालकाय राजसूय यज्ञ का प्रबंध भी किया था। इस प्रयोजन के लिए भगवान को समर्थ सहयोगी की जरूरत थी। इसके लिए उन्हें समर्थ और मित्र का दुहरा कार्य कर सकने वाला अर्जुन ही दीखा। उससे उन्होंने इस महान उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए कटिबद्ध होने का अनुरोध किया।

अर्जुन न तो परामर्श के साथ समाहित दूरगामी श्रेय सत्परिणाम को समझ पा रहा था और न उसके साथ जुड़ी हुई

सघन आत्मीयताजन्य उपलब्धियों की परिकल्पना कर पा रहा था। संकीर्ण सीमा बंधन हो उसके दृष्टिकोण पर छाये हुए थे। इसलिए निजी एवं तात्कालिक लाभ-हानि का लेखा-जोखा सामने रखकर उस महान जिम्मेदारी से इनकार कर रहा था, जिसमें तात्कालिक लाभ कम अथवा संदिग्ध प्रतीत हो रहा हो। जिंदगी के दिन गुजारने के लिए उसे किसी प्रकार पेट भर लेने की व्यवस्था बनाने के अतिरिक्त और कोई बात महत्त्वपूर्ण लग ही नहीं रही थी।

महाभारत की उस विषम वेला में अर्जुन के हाथ से गांडीव छूटते, उसके मुख को सूखते एवं पसीना-पसीना होते देखकर कृष्ण झुँझला पड़े थे और भवें तरेरकर बोले—**'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्' अभागे !** इस विषम वेला में यह कृपणता तेरे मन-मस्तिष्क पर किस प्रकार चढ़ बैठी ?

महाकाल की इस प्रताड़ना से अर्जुन की स्वार्थपरता ने भी यह भी स्वीकार किया कि इस प्रयास को अपनाने में हर दृष्टि से लाभ ही लाभ है। अस्तु वह भगवान का प्रिय, यशस्वी तथा वैभवशाली-विजेता का बहुमुखी श्रेय पाने के लिए तत्काल तैयार हो गया। इस सामयिक बुद्धिमानी ने सचमुच उसे निहाल कर दिया।

रूस की राज्यक्रांति जब मुट्ठी भर श्रमिकों ने संपन्न कर ली और लेनिन को उसका नेतृत्व सौंपा गया तो वे स्वयं चकित रह गये कि इतना कठिन—इतना समय साध्य कार्य, इतनी जल्दी इतने स्वल्प प्रयासों से आखिर हो कैसे गया ? अब्राहम लिंकन, दक्षिणी अमेरिका में प्रचलित गुलाम प्रथा के पक्षधरों की कट्टरता और कठोरता को देखते हुए शंकाशील ही बने रहे, कि इतना कठिन कार्य न जाने कितनी देर में कितनी कठिनाई से पूरा हो सकेगा ? किंतु प्रवाह कुछ इस प्रकार उलटा कि दास प्रथा का अंत हो ही गया और इसके लिए उतना बल प्रयोग नहीं करना पड़ा जितना कि अनुमान लगाया जाता था। भारत से अंग्रेजों का चला जाना भी कुछ ऐसा ही चमत्कार है, जिसके संबंध में न केवल सत्याग्रही वरन् क्रांतिकारियों को भी यह पूर्वानुमान नहीं था कि इतनी जल्दी

भारत स्वतंत्र हो जाएगा और अंग्रेज भारत से चले जाएँगे। अंग्रेजों की शक्ति और कूटनीति—स्वतंत्रता सैनिकों की स्वल्प संख्या और शक्ति दोनों के बीच कोई ऐसी संगति नहीं बैठती थी कि इतना कठिन कार्य इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से संपन्न हो जायेगा। न तो अंग्रेज इतने दुर्बल थे और न सत्याग्रही इतने समर्थ; जिसके कारण वैसे प्रतिफल की आशा की जा सकती, जैसा कि संपन्न हुआ। यों कहने को तो श्रेय टक्कर लेने वालों और योजना बनाने वालों को भी दिया जाता है, दिया भी जाना चाहिए किंतु तात्त्विक पर्यवेक्षण करने और संगति बिठाने पर इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि अविज्ञात शक्तियाँ अपना अदृश्य ताना-बाना पर्दे के पीछे बुन रही थीं और उस अनुकूलता ने स्वतंत्रता प्राप्ति की उत्साह-भरी उपलब्धि का साधन जुटा दिया।

कुछ समय पूर्व भारत की अधिकांश जनता पर सामंतों और राजाओं का एक-छत्र शासन था। समूची भूमि के स्वामी वे ही थे। शस्त्र और सैन्य शक्ति के कारण उन्हीं की तूती बोलती थी। उनकी मर्जी ही कानून कहलाती थी और वे जिस प्रकार सनकते थे, वही कर गुजरते थे। समूचा वैभव उन्हीं की मुट्ठी में केंद्रीभूत था। जनता को असहाय भेड़-बकरियों की तरह रहना पड़ता था और गाजर-मूली की तरह उनका उपयोग होता था। शताब्दियों और सहस्राब्दियों से चली आ रही यह निरंकुश सामंतशाही इतनी गहरी जड़ें जमा चुकी थी, कि राजा को "ईश्वर का प्रतिनिधि" मानकर उसकी प्रत्येक मर्जी को पूरा करना प्रजा ने एक प्रकार से अपना धर्म ही मान लिया था। किसी को आशा नहीं थी कि इस मनःस्थिति और परिस्थिति से दीन-दुर्बल बनी हुई जनता इस आतंक से उतनी जल्दी मुक्ति पा सकेगी, जैसी कि उसने पाई। देश भर में फैले हुए ६०० राजा-महाराजा और लाखों सामंत-जमींदार इस तरह एक हवा के झोंके के साथ उड़ गये, मानो वे कोई वजनदार वस्तु न होकर मात्र सूखे तिनके पत्तों जैसे हल्के-फुल्के थे। इस घटनाक्रम को इतिहासकार समय के मदारी द्वारा दिखाई गई कौतूहल भरी

बाजीगरी ही कह सकते हैं, यों इस परिवर्तन में अग्रणी लोगों की भूमिका को ही श्रेय दिया जाता है। इसमें किसी को कोई आपत्ति भी नहीं है, किंतु पर्वत जैसे भारी अवरोध और उसे उखाड़ने के लिए कितना हल्का सा प्रतिरोध, इन दोनों का तारतम्य बिठाने में कुछ और भी रहस्य सामने आते हैं। यह समझने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अदृश्य जगत में क्रिया की प्रतिक्रिया हो रही थी और उसने न केवल श्रेयाधिकारियों को उभारा वरन् उन्हें सफल बनाने वाली अनुकूलता उत्पन्न करने में भी कोई कमी न रहने दी।

संसार में समय-समय पर आदर्शों के पक्षधर महान परिवर्तन होते रहे हैं। दास प्रथा, सामंतशाही, नारी का पद-दलन, समर्थों द्वारा दुर्बलों का शोषण जैसे—अनाचारों ने परंपरा एवं कानून बनकर चिरकाल तक अपने कुचक्र में जन-समुदाय को जकड़े रखा है। जिसकी लाठी उसकी भैंस का मत्स्य न्याय, जंगली कानून, अपने क्षेत्रों में अपने ढंग से प्रकट होता और विजय पताका फहराता है। इतने पर भी दानव को चिरस्थायी बनने का अवसर न मिल सका। कई ऐसे कारण उत्पन्न हुए, जिनसे समर्थता का तख्त उलटे और वह औंधे मुँह जा गिरा। आज अनेकों ऐसे अनाचार मात्र उपाख्यान बनकर रह गए हैं, जो किसी समय अपने चंगुल में अधिकांश जन समुदाय को जकड़े हुये थे। आज न दास-प्रथा है न सती-प्रथा, न राजा हैं, न सामंत। कुप्रथाएँ और दुष्ट परंपराएँ अपनी अंतिम साँसें गिन रही हैं। जगह-जगह मार्टिन लूथर और दयानंद पैदा हो रहे हैं। विभिन्न शासन पद्धतियों को पददलित करता हुआ समाजवाद हावी होता चला आ रहा है। बिखराव को—विभेद को निरस्त करके एकता, समता के आधार खड़े करने वाले अदृश्य प्रवाह दिन-दिन प्रचंड होते चले जा रहे हैं। आश्चर्य इस बात का है कि अवांछनीयता की सामर्थ्य अत्यधिक विशालकाय होते हुए भी उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं, जबकि सुधारवादी, आदर्शवादी पक्ष का मूल्यांकन खिलवाड़ जैसा नगण्य, उपहासास्पद एवं नितांत दुर्बल ही

ठहरता है। पर जिन्हें दिव्य दृष्टि की एक किरण भी प्राप्त है, वे अनुभव करेंगे कि इन दिनों युग-प्रवाह का साथ देना और उसके अग्रदूतों में सम्मिलित होना ही वास्तविक बुद्धिमत्ता का परिचायक है, जो ऐसा साहस जुटा सकेंगे, वे असीम संतोष और अजस्र सम्मान के भागी बनेंगे, यह निश्चित है।

फिर भी साधारणतया मनुष्य का सहज रुझान तात्कालिक लाभ की ओर ही होता है। इस अदूरदर्शिता के लिए जितना कहा जाय कम है।

चासनी के कढ़ाव को एक बारगी चट कर जाने के लिए आतुर मक्खी बेतरह उसमें कूदती है और अपने पर—पैर उस जंजाल में लपेटकर बेमौत मरती है, जबकि समझदार मक्खी किनारे पर बैठकर धीरे-धीरे स्वाद लेती, पेट भरती और उन्मुक्त आकाश में बेखटके विचरती है। अधीर आतुरता ही मनुष्य को तत्काल बहुत कुछ पाने के लिए उत्तेजित करती है और उतने समय तक ठहरने नहीं देती, जिसमें कि नीतिपूर्वक उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलतापूर्वक संभव हो सके।

मछली वंशी में लिपटी आटे की गोली भर को देखती है। उसे उतना अवकाश या धीरज नहीं होता कि यह ढूँढ़-समझ सके कि इसके पीछे कहीं कोई खतरा तो नहीं है। घर बैठे हाथ लगा प्रलोभन उसे इतना सुहाता है कि गोली को निगलते ही बनता है। परिणाम सामने आने में देर नहीं लगती। काँटा आँतों में उलझता है और प्राण लेने के उपरांत ही निकलता है।

जाल में फँसने वाले पक्षियों की भी ऐसी ही दुर्गति होती है। वे दूर उड़कर जाने और परिश्रमपूर्वक एक-एक दाना ढूँढ़ने की तुलना में जाल पर, बिखरे दानों को एक सौभाग्य जैसा मानते हैं और उससे लाभ उठाने में चूकने की बात नहीं सोचते। उन्हें यह सोचने की फुरसत नहीं होती कि लाभ उठाते समय उसके पीछे कोई दूरगामी संकट तो नहीं छुपा है, उसे भी देखने की आवश्यकता है। हर लोभी, अधीर-आतुर होता है और तात्कालिक

लाभ के कुछेक दाने चुग लेने के बाद उस पक्षी की तरह बेमौत मरता है, जिसे सामने बिखरे आकर्षण के उपरांत अन्य कोई बात सूझती ही नहीं।

पूरी रोटी स्वयं ही खा जाने की फिराक में दो बिल्लियों में से प्रत्येक घाटे में रही। मिल-बाँटकर खाती और संतोष-सहयोग का आश्रय लेकर प्रसन्न रहती तो कितना अच्छा होता ? पर उसके लिए लालच से ऊपर उठकर कुछ स्वार्थ, कुछ परमार्थ की न्यायोचित नीति अपनाना संभव न हो सका। लड़ी-मरीं, घायल हुईं और अंततः बंदर बाँट करने की मूर्खता अपना कर खाली हाथ घर लौटीं और देर से समझ आने पर उदास मन होकर पछताईं। हममें से कितने ही इसी प्रकार मात्र अपनी ही बात सोचते हैं। साथियों, सहयोगियों, समकालीनों को भी उपलब्धियों में हिस्सा देना है, इसके लिए रजामंद नहीं होते। हाऊ-हड़प की आपाधापी आरंभ में ही चतुरता लगती है, पर इस विडंबना को अपनाने में क्या कुछ पल्ले पड़ता है ? इसके संबंध में उन्हें मूर्ख बिल्लियों की तरह ही खाली हाथ रहना और बेतरह पछताना पड़ता है।

भेड़ अपनी ऊन दूसरों को देती और आदरपूर्वक पाली जाती है। बाल काटने के उपरांत उसे प्रकृति के नये अनुदान मिलते हैं और क्षति-पूर्ति के अतिरिक्त यश, गौरव एवं स्नेह-सहयोग भी मिलता है। यों इस प्रकार का अनुदान लोक परंपरा में मूर्खता ही कहा जायेगा। आज तो उन रीछों की ही प्रशंसा होती है, जो अपने बाल किसी को छूने तक नहीं देते और जो मिले उस पर हमला करने के लिए आमादा रहते हैं। बुद्धिमानी से पर्यवेक्षण करना होगा कि भेड़ और रीछ द्वारा अपनाई गई भिन्न-भिन्न नीतियों को अपनाकर किसे क्या मिला ? रीछ बदनाम तो है ही, उसे स्नेह-सहयोग कौन देगा ? इतना ही नहीं प्रकृति ने उसके बाल बढ़ाये भी नहीं। जितने आरंभ में थे, उतने ही अंत तक बने रहे, जबकि भेड़ बार-बार अनुदान पाती और अपने को, दूसरों को कृत-कृत्य करती रही।

इसमें समर्थता को नहीं, दूरदर्शी सद्भावना को ही श्रेय मिलता देखा जा सकता है।

पेड़ अपने पत्ते गिराते, जमीन को खाद देते और बदले में जड़ों के लिए उपयुक्त खुराक उपलब्ध करते हैं। फल-फूलों से दूसरों को लाभान्वित करते हैं। फिर भी पेड़ों को बार-बार नये पल्लव और नये फल-फूल देते रहने में प्रकृति कोताही नहीं बरतती। उदारमना घाटा उठाते लगते भर हैं, वस्तुतः वे जो देते हैं—उसे ब्याज समेत वसूल कर लेते हैं।

इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित महामानवों में से प्रत्येक ने परमार्थ-परायणता की दूरदर्शिता-पूर्ण नीति अपनाई है। वे बीज की तरह गले और वृक्ष की तरह फले हैं। इस मार्ग पर चलने के लिए उन्हें प्राथमिक पराक्रम यह करना पड़ा कि संचित कुसंस्कारों की पशु-प्रवृत्तियों से जूझे और उन्हें सुसंस्कारी बनने के लिए पूरी तरह दबाया, दबोचा और तब छोड़ा जब वे चीं बोल गईं और संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर आदर्शवादी परमार्थ प्रवृत्ति को अंगीकार करने के लिए सहमत हो गईं।

समझा जाना चाहिए कि यह युग-परिवर्तन की प्रभात बेला है। अनौचित्य का अंधकार, मरण के मुख में जा रहा है और उज्ज्वल भविष्य के अरुणोदय की मधुर मुस्कान क्रमशः पुष्प की तरह खिलती चली जा रही है। इस सुनिश्चित तथ्य से साझेदारी ग्रहण कर लेने में इतनी बड़ी दूरदर्शिता है, जिसकी सराहना का कभी अंत नहीं आ सकता। उषा काल की निजी सत्ता नगण्य होने पर भी वह इसीलिए विश्व-वंदित होती है कि परिवर्तन काल में अग्रगामी ध्वजा-पताका बनकर, अपनी सामर्थ्य का, कहीं अधिक सदाशयतापूर्ण परिचय देती है। इस बसंत में हर पेड़-पादप को पुष्पित, फलित होने का अवसर मिल सकता है। शर्त अनुकूलता अपनाने भर की है। मुख मोड़ लेने पर तो स्वाति वर्षा भी किसी का कुछ भला नहीं कर सकती, जबकि उसके तनिक से सहयोग से

सीप को मोती, केले को कपूर बनाने का अनायास ही अजस्र सौभाग्य मिलता रहता है।

अंधकार में भी जागृति का संदेश देने वाला उलूक तक जब लक्ष्मी का वाहन बन सकता है, तो जाग्रत् आत्माओं के द्वारा युग-सृजन के निमित्त अपनाई गई भूमिका क्यों उन्हें कृत-कृत्य बनने का अवसर न देगी ?

सामर्थ्य का स्रोत तो जनता है, पर उसे जगाने वाले प्रहरियों को ही अग्रिम भूमिका निभानी पड़ती है। घड़ी चलती तो तभी है जब उसके सभी कल-पुर्जे सहयोगपूर्वक काम करते हैं। इतने पर भी यह रहस्य किसी से छिपा नहीं है कि उन सबको चलने के लिए विवश करने का उत्तरदायित्व चाबी पर ही आता है। चाबी मरोड़ी जाती है तो फिनर कड़ा हो जाता है और उसके दबाव से सभी कल-पुर्जे हरकत में आते हैं। यदि चाबी ढीली हो—फिनर अड़ गया हो, तो फिर समझना चाहिए कि अन्य कल-पुर्जों के सही होने पर भी घड़ी नई और ठीक होने पर भी, समय बताने की सारी व्यवस्था ठप्प पड़ी रहेगी और वह बहुमूल्य यंत्र बच्चों के खिलौने जैसे बनकर रह जायेंगे।

शरीर में हृदय का स्थान मुट्ठी जितने आकार का है, किंतु समस्त शरीर को गतिशील रखने की जिम्मेदारी उसी की है। हृदय रक्त पहुँचाने और फेफड़े सफाई करने में प्रमाद बरतने लगें, तो समझना चाहिए अन्यान्य अवयवों की क्षमता एवं विशेषता का कोई उपयोग न रह जायेगा। वे सभी एक-एक करके बेमौत मरेंगे।

इन दिनों नव-निर्माण की भूमिका जन-समुदाय में विद्यमान जाग्रत् और जीवंतों को ही निभानी होगी। जनता को वे ही प्रेरणा देते हैं। प्रसुप्ति को जाग्रति में वे ही बदलते हैं। संकीर्णता और कृपणता के बंधनों में बँधी हुई जन-शक्ति को सत्प्रयोजनों में निरत करने की जिम्मेदारी उन्हीं की है। यदि वे उनींदे पड़े रहें तो फिर समझना चाहिए—लोकमानस का कुंभकरण, पौराणिक दैत्य से भी

अधिक आलसी सिद्ध होगा। वह छह महीने तो क्या हजार वर्षों में भी करवट बदलने को सहमत न होगा।

आदर्शवादी कल्पना, मान्यता, भावना अपने समय पर अपने स्थान पर उपयुक्त है, पर इतने भर से काम चलता नहीं। मनमोदक खाने से किसका पेट भरा है ? शेख चिल्ली को उसका मन-चाहा गृहस्थ कहाँ मिला था ? आदर्शवादिता अपनाने में अपने अभ्यस्त चिंतन और निर्धारित जीवनचर्या में क्रांतिकारी उलट-पुलट करनी होती है। जो ऐसा साहस जुटा पाते हैं, जुटाने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते हैं उन्हीं को साधक कहते हैं।

दैवी अनुग्रह प्राप्त करने के लिए पूजा-उपासना ही एक मार्ग नहीं है। उसके अतिरिक्त परमार्थ-प्रयोजनों में रत रहने वालों ने भी अध्यात्म क्षेत्र की अभीष्ट सफलताएँ पाई हैं। लोक-सेवा भी किसी भजन-पूजन से कम महत्त्व की साधना नहीं है। ऐसे व्यक्ति नित्य नियम जितनी थोड़ी उपासना कर लेने से भी उच्चस्तरीय परिणाम प्राप्त कर सकने में सफल हुए हैं। विवेकानंद, गाँधी, विनोबा आदि के उदाहरण ऐसे ही हैं, जिनमें सेवा साधना ही प्रधान है। पूजा-अर्चना तो वे थोड़ी-सी ही करते रहे हैं, सो भी एकांतिक नहीं सामूहिक। भगवान बुद्ध और महावीर ने भी आरंभिक दिनों में ही तपश्चर्या अपनाई थी। उसके उपरांत वे धर्म-चक्र-प्रवर्तन को विश्व-व्यापी बनाने, उसके लिए परिव्राजक प्रशिक्षित करने तथा साधन जुटाने में ही निरत रहे। गुरु गोविंद सिंह, समर्थ रामदास, चाणक्य आदि की गणना भी ऐसे ही कर्मयोगियों में की जाती है, जिन्होंने भजन कम और परमार्थ अधिक किया है। देवर्षि नारद के संदर्भ में उल्लेख है कि वे ढाई घड़ी से अधिक कहीं ठहरते नहीं थे और भक्ति भावना के विस्तार में हरिगुण गाते हुए निरंतर परिभ्रमण करते रहते थे। महर्षि व्यास ने अठारह पुराण लिखे हैं। उनका समय निश्चय ही इस लोक-साधना में अधिक और पूजा-अर्चना में कम लगता रहा होगा।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ऋषियों ने भजन कम और रोगियों की व्यथा के लिए पुरुषार्थ अधिक किया था। वे जानते थे कि भगवान की अनुकंपा के अधिकारी वे अधिक होते हैं, जो उनकी संतान को सुखी-समुन्नत बनाने में निरत रहते हैं।

तरीके भले ही अलग हों, लक्ष्य सबका एक ही रहा; रीछ-वानरों ने पुल बनाने में श्रम लगाया, ग्वाल-बालों ने पर्वत उठाया, हनुमान ने पर्वत उठाया तथा अर्जुन ने गांडीव चलाया था। भगवान की भक्ति, परमार्थ-परायणता के यह तरीके परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। पर इस भिन्नता में श्रद्धा का सामयिक प्रयोग देखा और उस भिन्नता में एकता का दर्शन किया जा सकता है। केवट ने नाव चलाकर, शबरी ने बेर खिलाकर; गिलहरी ने रेत उठाकर, जटायु ने जूझकर अपनी भक्ति का परिचय दिया था। सभी ने एक जैसा क्रम क्यों नहीं अपनाया ? यह कहने वालों को मूढ़मति कहा जायेगा और माना जायेगा कि वे समय की माँग की उपेक्षा करने वाले विवेकहीन व्यक्ति हैं।

पाणिनि ने व्याकरण रचा और पातंजलि ने योग, व्यास ने पुराण लिखे और चरक ने वनस्पति-जगत को खोज मारा। नागार्जुन ने रसायन विद्या का अनुसंधान किया और चाणक्य ने राजनीति को लक्ष्य बनाया। विवेकानंद द्वारा एक भिन्न प्रकार का काम किया गया और गुरु गोविंद सिंह ने दूसरे प्रकार की कार्य-विधि अपनाई। बुद्ध के चीवरधारी और गाँधी के सत्याग्रही वेष-विन्यास भी भिन्न प्रकार का धारण किये रहे और कार्य-विधि भी एक जैसी नहीं थी, फिर भी युग-परिवर्तन की दृष्टि से उनके योगदानों को समान रूप से सराहा जायेगा। परशुराम का कुल्हाड़ा और धन्वंतरि का अमृत घट आकृति और प्रकृति में भिन्न थे, किंतु लक्ष्य एक ही था।

इसी प्रकार हर व्यक्ति अपने सामर्थ्य एवं साधनों के अनुरूप नवनिर्माण के विभिन्न प्रयोजनों में अपना योगदान देकर दूरदर्शिता का परिचय दे सकता है, श्रेय-सौभाग्य का भागी बन सकता है।

नवयुग को देवयुग कहा जायेगा। उसकी तुलना सतयुग एवं रामराज्य से होगी। उसी स्थिति में धरती पर स्वर्ग का अवतरण कहा जायेगा। इसकी भूमिका निभाने की पूरी-पूरी जिम्मेदारी मनुष्य के अंतराल में उद्‌भूत होने वाले देवत्व को वहन करनी होगी। यही है वह दैवी निर्धारण, जो जाग्रत् आत्माओं के भाग्य-विधान में इन दिनों प्रकट होने के लिए विधाता ने अपनी लेखनी से लिख रखा है। युग-संधि के इस पावन पर्व पर हर जाग्रत् आत्मा को अपनी जीवनचर्या में ऐसा ही प्राणवान परिवर्तन प्रकट होते दृष्टिगोचर होगा। ये नर-पशुओं की तरह पेट-प्रजनन के लिए जीवित रहने की निकृष्टता साहसपूर्वक अस्वीकार कर देंगे, इतना ही नहीं चतुर लोगों द्वारा अपनायी जाने वाली अक्लमंदी भी उन्हें रुचेगी नहीं और लगेगा कि संचय, विलास एवं बड़प्पन के कोल्हू में पिलने वाली तथाकथित बुद्धिमानी में भी कुछ सार नहीं है। अंततः वह वज्र मूर्खता से भी महँगी पड़ती है।

गीता के कृष्ण-अर्जुन संवाद का प्रमुख विषय यही है। जो कुछ कहा-सुना गया है, उसका एकमात्र उद्देश्य इतना ही था कि सामयिक स्वार्थपरता की दूरदर्शिता से ऊपर उठकर दूरगामी सत्परिणामों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय। कृष्ण के इस परामर्श को जब अर्जुन ने स्वीकार कर लिया तो वह दूरदर्शी बना और उस दूरदर्शिता ने भगवान के द्वारा किये गये महान कार्य का अनायास ही श्रेयाधिकारी बना दिया। जाग्रत् आत्माएँ यदि युग देवता के अनुरोध-आमंत्रण को सुन सकें तो वे भी अर्जुन की तरह ही भगवान के निकटतम गिने जाने और महानता का समग्र श्रेय पाने का सौभाग्य अर्जित कर सकती हैं।

❐ ❐

# (अ) प्रस्तुत समस्याओं का एकमात्र कारण तथा निवारण

पूर्वजों की तुलना में आज की दुनिया अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध, शिक्षित, सशक्त एवं साधन संपन्न है। वैज्ञानिक, आर्थिक एवं बौद्धिक क्षेत्रों में गत शताब्दियों में हम कहीं आगे बढ़े हैं। फिर भी इस प्रगति का लाभ नहीं मिल पा रहा है। मनुष्य दिन-दिन अधिक दुर्बल, रुग्ण, चिंतित, उद्विग्न, दरिद्र, दुर्गुणी एवं व्यक्तित्व की दृष्टि से हीन होता जा रहा है।

कारण यह नहीं है कि ६०० करोड़ मनुष्यों की उचित आवश्यकता पूरी कर सकने के लिए आवश्यक सुविधा-साधन उपलब्ध नहीं है। वरन् यह है कि उनके संचय की ललक और उपभोग की लिप्सा ने संपत्ति का सदुपयोग संभव नहीं रहने दिया। साधनों की वृद्धि तेजी से जारी है। संपन्नता बढ़ रही है। इतने पर भी यह आशा नहीं बँधती कि प्रस्तुत कठिनाइयों का कोई हल निकलेगा। अमेरिका जैसे धन-कुबेर इस बात के साक्षी हैं कि बहुत वैभव होने पर भी मनुष्य शारीरिक और मानसिक दृष्टि से किस तेजी के साथ दुर्बल एवं रुग्ण होते चले जा रहे हैं। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उन्हें कितनी भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। बढ़ते हुए मनोरोग और अपराध यह बताते हैं कि बढ़ा हुआ वैभव भी व्यक्ति को सुखी एवं समुन्नत बनाने में कुछ अधिक कारगर सिद्ध नहीं हो रहा है।

यहाँ वैभव-वृद्धि की अनुपयोगिता नहीं ठहराई जा रही है और उन प्रयत्नों के विरुद्ध भी कुछ नहीं कहा जा रहा है। संपत्ति बढ़ना तो मनुष्य के कौशल एवं पुरुषार्थ का ही प्रतिफल है, अस्तु उसे सराहनीय ही कहा जायेगा। चर्चा यह हो रही है कि पिछली पीढ़ियों के लिए लोग आज के भौतिक-वैभव की तुलना में कहीं अधिक

अभावग्रस्त थे। उनमें से कुछ जीवित रहे होते, तो आज बढ़ी-चढ़ी सुविधाओं को देखते और अपने समय की परिस्थितियों के साथ तुलना करते तो उन्हें यह समय चमत्कारी समृद्धि, सिद्धियों से भरा-पूरा प्रतीत होता। रेल, तार, डाक, जहाज, मोटर, सड़क, शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, कला, व्यवस्था आदि की जो बढ़ोतरी हुई है; उसे देखते हुए पिछली पीढ़ी वाले यही कल्पना कर सकते हैं कि इन दिनों के लोग देवोपम जीवन जी रहे और स्वर्गीय परिस्थितियों का आनंद ले रहे होंगे।

स्थिति बिल्कुल उलटी है। व्यक्ति दिन-दिन शारीरिक, मानसिक और आंतरिक हर क्षेत्रों में दुर्बल पड़ता जा रहा है। रुग्णता और दुर्बलता एक फैशन एवं प्रचलन है, यद्यपि पौष्टिक खाद्य-पदार्थों और चिकित्सा-साधनों की कोई कमी नहीं है। उसी प्रकार मस्तिष्कीय विकास के लिए पाठशाला से लेकर पुस्तकों तक के अगणित साधन उपलब्ध हैं। रेडियो, अखबार, प्रदर्शनी, यात्रा, सभा सम्मेलन आदि की सुविधा से जानकारी का क्षेत्र तेजी से बढ़ रहा है।

अशिक्षा के विरुद्ध युद्धस्तरीय प्रयत्न चल रहे हैं और विज्ञ एवं कुशल लोगों की संख्या तूफानी गति से बढ़ रही है। इतने पर भी मनोरोग, हेय चिंतन, दुर्भाव, अनुपयुक्त महत्त्वाकांक्षाएँ, निकृष्टताएँ घट नहीं रही हैं। अधिकांश जन-मानस संतोष और शांति से वंचित है। प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता के लक्षण अपवाद रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं। हर व्यक्ति खिन्न, चिंतित, उदास दृष्टिगोचर होता है। न उमंगें हैं, न आशा। आशंकाओं और समस्याओं के भार से हर मनुष्य का मस्तिष्क तनावग्रस्त दीखता है। असुरक्षा और एकाकीपन का भार इतना लद रहा है कि जिंदगी भारी लाश की तरह ढोनी पड़ रही है। बढ़ी हुई विपन्नता में हत्याओं, आत्म-हत्याओं का दौर बढ़ रहा है। अर्ध हत्या, अर्ध आत्महत्या की घटनायें तो पग-पग पर देखी जा सकती हैं। विक्षिप्त और अर्ध-विक्षिप्त, सनकी और वहमी लोगों की संख्या इस तेजी से बढ़ रही है कि स्वस्थ और संतुलित मनःस्थिति वाले व्यक्ति खोज निकालना कठिन दीखता है। बाहर से

चतुर और बुद्धिमान, सुशिक्षित और संपन्न दीखने वाले व्यक्ति भी भीतर इतने खोखले और उथले पाये जाते हैं कि कई बार तो उनके सुशिक्षित होने में भी संदेह होने लगता है।

पारिवारिक स्नेह-सौजन्य, सहयोग-सौहार्द्र घटते-घटते समाप्ति के बिंदु तक जा पहुँचा है। माता-पिता और संतान के बीच भाई-बहिनों में, भावज-ननद में जैसी आत्मीयता होनी चाहिए, उसका दर्शन दुर्लभ हो रहा है। एक बाड़े में रहने वाली भेड़ों की तरह कुटुंबों में कई व्यक्ति रहते तो हैं, पर एक-दूसरे पर प्यार और सहयोग बखेरने के स्थान पर अपनी-अपनी गोटी बिठाने में लगे रहते हैं। परिवार संस्थान से अधिकाधिक लाभ किस प्रकार उठाया जा सकता है ? घर का हर सदस्य बस इतना ही सोचता है। अधिकार की माँग है और कर्त्तव्य की उपेक्षा, फलतः परिवार नीरस-निरानंद हो चले हैं। दुकान-दफ्तर से लौटने पर घर में जो स्वर्गीय आनंद मिल सकता है, उससे अधिकांश लोग वंचित हैं। थकान मिटाने के नाम पर नशा, सिनेमा और यारबाशी जैसे घटिया आधार ढूँढ़ने के लिए लोग प्रायः बचे हुए समय को भी बाहर ही बिताते हैं।

पति-पत्नी का रिश्ता एक प्राण-दो देह का माना जाता है। जीवन-रथ को अग्रगामी बनाने में दोनों को दो पहियों की भूमिका निभानी चाहिए। नाव खेने में दोनों हाथ काम देते हैं, वैसे ही गृहस्थ की सुव्यवस्था में पति-पत्नी का योगदान होता है, दोनों को एक मन होकर समन्वित जीवन जीना पड़ता है, किंतु लगता है कि आदर्श समाप्तप्राय हो गये हैं। यौन-लिप्सा ही वह आधार रह गया है, जिसमें दोनों एक-दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। इसी प्रसंग में बच्चे आ सकते हैं और उनके प्रति जो प्रकृति-प्रदत्त मायामोह होता है, उस सूत्र में भी पति-पत्नी किसी प्रकार बँधे रहते हैं। यदि यौन आकर्षण और बालकों का मोह हटा दिया जाय, तो सहज सौजन्य से प्रेरित भावभरा दांपत्य जीवन कदाचित ही कहीं दृष्टिगोचर होगा। समृद्ध देशों में स्वच्छंदता के कारण और पिछड़े देशों में

विवशता के कारण ही, पति-पत्नी के बीच काना-कुबड़ा स्नेह संबंध जीवित रह रहा है। परिवार टूटते जा रहे हैं। वयस्क होते ही हर किसी को अलग रहने की बात सूझती है, मजबूरी से जो साथ रहते हैं, उन्हें भी सोचना यही पड़ता है कि सम्मिलित कुटुंब के सदस्य रहते तो अच्छा होता। पढ़ी-लिखी लड़कियों और उनके अभिभावक विवाह संबंध जोड़ने के साथ ही यह सोचते हैं कि बड़े कुटुंब का सदस्य बनकर न रहना पड़े। बिलगाव के इस प्रयत्न में पारिवारिक जीवन—जिसे घरौंदों में बसने वाला स्वर्ग कहा जाता था; एक प्रकार से छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट ही होता चला जा रहा है। इस सौभाग्य से वंचित रहने पर लोग सराय में दिन बिताने वाले आवारागिर्द लोगों की तरह दिन गुजारते हैं। गृहस्थ जीवन का भावात्मक आनंद कितना उच्चस्तरीय होता है ? इसकी अनुभूति तो दूर कल्पना तक से लोगों के हाथ से छिनती जा रही है।

आर्थिक दृष्टि से प्रायः सभी लोग दरिद्री हैं। अभावग्रस्त लोग स्वतंत्र आजीविका के कारण जितने खिन्न पाये जाते हैं, उससे अधिक उद्विग्न वे हैं, जिनके पास साधनों का बाहुल्य है। धन कमाना एक बात है और उसका सदुपयोग करना बिल्कुल दूसरी बात है। एक पक्ष तो बढ़ रहा है, पर दूसरे की दुर्दशा ने सारा संतुलन ही बिगाड़ दिया। विलासिता, आलस्य, बनावट, शान-शौकत की मदें इतनी खर्चीली हो रही हैं कि भोजन, वस्त्र जैसे आवश्यक व्यय तो उनकी तुलना में नगण्य जितने ही लगते हैं। अहंकार और बड़प्पन सहोदर जैसे बनते जा रहे हैं। संपन्नता की धारा दुर्व्यसनों के गर्त में गिरती है और उसकी प्रतिक्रिया से अनेकानेक आचरण एवं विग्रह उत्पन्न होते हैं। आजीविका सीमित है और लिप्सा असीम, तो फिर ऋणी बनने या कुकर्म करके उपार्जन करने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। सामाजिक कुरीतियों की लाश ढोने में भी अर्थ-व्यवस्था की कमर टूटती है। उचित से काम नहीं चलता तो अनुचित उपार्जन किया जाता है और अपराधी स्तर को

कमाई का एक बड़ा साधन बनाया जाता है। इतने पर भी कितने लोग हैं, जो आर्थिक दृष्टि से अपने को सुखी-संतुष्ट कह सकें। धनी-निर्धन सभी को अर्थ-संकट से गुजरने की शिकायत है।

सामान्यतया लोग कहते हैं कि जमाना बुरा है। कलियुग का दौर है, परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही बन गईं अथवा भाग्य-चक्र प्रतिकूल रहा, जैसे कारण बताकर मन तो हल्का किया जा सकता है, पर उससे समाधान कुछ नहीं निकलता। मूर्धन्य राजनेताओं, दार्शनिकों, सेनापतियों, धर्माचार्यों, धनिकों को भी प्रतिकूलताओं के लिए दोषी तो ठहराया जा सकता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जन-मानस सर्वथा निर्दोष है। तथ्य यह है कि मूर्धन्य व्यक्ति भी आकाश से नहीं टपकते, जन-समाज में से ही निकलते हैं। लोक-मानस का स्तर ही प्रतिभाएँ उत्पन्न करता और उन्हें दिशा प्रदान करता है। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है। उसकी अंतःचेतना में अनंत संभावनाएँ बीज रूप में विद्यमान हैं। वे उभरती हैं तो व्यक्तित्व का स्तर बनता है और उस आधार पर विनिर्मित हुई प्रतिभा अपना चमत्कार दिखाती है। मूर्धन्यों के उभरने और पुरुषार्थ की दिशा अपनाने का यही तत्त्व ज्ञान है। परिस्थितियों को दोष का श्रेय देने को दिया जा सकता है, पर मूल कारण ढूँढ़ना और तथ्य तक पहुँचना हो तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि व्यक्ति का अंतराल ही प्रगति एवं अवगति के लिए उत्तरदायी है। आज की विषम परिस्थिति को बदलने की जो आवश्यकता समझते हैं, उन्हें कारण की तह तक पहुँचना होगा। अन्यथा सूखते, मुरझाते पेड़ को हरा बनाने के लिए जड़ की उपेक्षा करके, पत्ते सींचने जैसी विडंबना चलती रहेगी और थकान के अतिरिक्त और कुछ भी पल्ले न पड़ेगा।

आमतौर से मनुष्य की कृतियों को परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी माना जाता है। प्रत्यक्षवादी को इतना ही दीखता है, किंतु जो गहराई तक उतर सकते हैं, उन्हें प्रतीत होगा कि शरीर जड़ पदार्थों का बना है, वह उपकरण मात्र है। उसमें क्रियाशीलता तो है, पर यह विवेक नहीं कि क्या करें ? क्या न करें ? यह निर्धारण मन को करना होता है। शरीर मन का आज्ञानुवर्ती सेवक है। मन

के इशारे पर ही उसके समस्त क्रिया-कलाप चलते हैं। भली-बुरी आदतें यों देखने में तो शरीर के अभ्यास में जुड़ी प्रतीत होती हैं, पर वास्तविकता यह है कि गुण, कर्म, स्वभाव का सारा ढाँचा मनःक्षेत्र में खड़ा रहता है, शरीर को तो उस बाजीगर के इशारे पर कठपुतली की तरह हरकत भर करनी होती है। शरीर से की गई हर क्रिया के लिए मानसिक स्तर को ही कारण मानना होगा।

इससे भी अगली परत एक और है, जहाँ पहुँचने पर व्यक्तित्व के आधारभूत मर्मस्थल को जाना जा सकता है। यह है आस्था केंद्र-अंतःकरण, यहीं भाव-संवेदनाएँ उठती हैं। रुचि और इच्छा का निर्माण यहीं होता है। व्यक्ति जो कुछ सोचता या करता है, वस्तुतः वह सब कुछ आस्था एवं आकांक्षा के उद्गम केंद्र अंतःकरण का ही निर्देश होता है।

मनुष्यों की आकृति और नित्यकर्म, प्रक्रिया—प्रायः एक जैसी होती है। शरीर सभी के आहार-विहार की पद्धति लगभग एक जैसी ही अपनाते हैं। नहाने, खाने, सोने, जागने जैसी हरकत और अनुकूल सुविधा-साधन पाने के लिए समान रूप से इच्छुक रहते हैं। ऋतु प्रभाव से लेकर समय का प्रभाव भी सभी को समान रूप से प्रभावित करता है। थोड़ा-बहुत अंतर भले ही हो, प्रगति के लिए अवसर हर मनस्वी को उपलब्ध रहते हैं। ऐसी दशा में किसी का पिछड़ेपन से घिरा रहना—किसी का दिन गुजारना, किसी का प्रगतिशील होना—किसी का महामानवों जैसी मूर्धन्य स्थिति प्राप्त करना आश्चर्यजनक लगता है। इस आकाश, पाताल जैसे अंतर का एकमात्र कारण, अंतराल में अवस्थित आस्थाएँ एवं आकांक्षाएँ ही होती हैं। वे ही जीवन-क्रम की दिशा-धारा निर्धारित करती हैं।

हम आस्था-संकट के दुर्दिनों में रह रहे हैं। दुर्भिक्ष मात्र आस्थाओं का है। अन्य सभी वस्तुएँ महँगे, सस्ते दाम पर विपुल परिमाण में खरीदी जा सकती हैं। समस्याओं का स्थूल उत्पत्ति क्षेत्र आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक प्रतीत होता है। अतएव इन्हीं को सुधारने के लिए आंदोलन और संघर्ष खड़े किये जाते रहते हैं।

स्वास्थ्य की गिरावट का कारण असंयम नहीं, विषाणुओं का आक्रमण माना जाता है। मनोरोगों का कारण उत्कृष्ट चिंतन का अभाव नहीं, स्वेच्छाचार को बताया जाता है। अर्थ समस्या का समाधान श्रमशीलता और मितव्ययिता का अभाव नहीं, पूँजी का वितरण माना जाता है। अपराधों को रोकने के लिए आस्तिकता का, आध्यात्मिकता का तत्त्व-दर्शन हृदयंगम कराने की उपेक्षा की जाती है और पुलिस, कचहरी में समाधान सोचा जाता है। राज-सत्ता को सुधार की जादुई छड़ी मानकर उस पर आधिपत्य करने के लिए हर महत्त्वाकांक्षी लालायित है। धर्मतंत्र को परिष्कृत करने और उसके सहारे आस्थाओं को जाग्रत् करने का मार्ग किसी को सूझता तक नहीं है। यह उथले प्रयत्न हैं। रक्त की विषाक्तता की उपेक्षा करके, फुंसियों पर पट्टी बाँधते रहने का रास्ता बहुत लंबा है और अभीष्ट परिणाम की दृष्टि से नितांत संदिग्ध। फिर भी घुड़दौड़ इन्हीं उथले प्रयत्नों के बवंडर खड़े करने में लगी हुई है। जड़ को खोजे बिना उथले प्रयत्न कितने दिनों में—किसी सीमा तक सफल हो सकेंगे ? यह नितांत अनिश्चित है।

यह हजार बार समझना और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि अपने युग की अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का एकमात्र कारण मानवी अंतःकरण में सन्निहित रहने वाली उच्चस्तरीय आस्थाओं का अवमूल्यन है। सड़ी कीचड़ में से मक्खी, मच्छर, कृमि, कीटक, विषाणु और दुर्गंध के उभार उठते हैं। इनका आत्यंतिक निराकरण नाली में जमी हुई सड़न को धो डालना ही हो सकता है। आस्थाओं में जड़ जमाये बैठी हुई निकृष्टता को न हटाया जा सका—अंतःकरण में उत्कृष्टता का स्तर न बढ़ाया जा सका—तो समझना चाहिए कि बालू से तेल निकालने की तरह, सुधार एवं परिवर्तन के समस्त प्रयास निष्फल ही होते रहेंगे। उज्ज्वल भविष्य दिवास्वप्न की तरह कल्पना का विषय ही बना रहेगा।

बाह्योपचारों के लिए कोई मनाही नहीं। वे होते हैं और होते रहने चाहिए किंतु महत्त्व अंतःउपचार का भी समझा जाना चाहिए। युग-परिवर्तन का वास्तविक तात्पर्य है, अंतःकरण में जमी हुई

आस्थाओं का उत्कृष्टतावादी, पुनर्निर्धारण। समस्त समस्याओं का समाधान इस एक ही उपाय पर केंद्रित है, क्योंकि गुत्थियों का निर्माण इसी क्षेत्र में विकृतियाँ उत्पन्न होने से हुआ है। खाद्य संकट, ईंधन संकट, स्वास्थ्य संकट, सुरक्षा संकट की तरह आस्था संकट के व्यापक क्षेत्र और प्रभाव को भी समझा जाना चाहिए। युग की समस्याओं के समाधान में इससे कम में काम चलेगा नहीं और इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

आस्थाओं का मर्मस्थल अंतःकरण है। दृष्टिकोण के परिष्कार का प्रयास वहीं से होता है। इसके लिए उन आधारों को अपनाना पड़ेगा, जो उच्चस्तरीय आस्थायें उत्पन्न करने में सफल हो सके। इस क्षेत्र को स्पर्श करने में एक माध्यम सफल हो सकता है और वह है अध्यात्म। अध्यात्म में चिंतन को तत्त्व-दर्शन और व्यवहार को धर्म कहते हैं। दोनों को मिलाने से ही समग्र अध्यात्म बनता है। तत्त्व-दर्शन को हृदयंगम करने का नाम योग तथा व्यवहार में उतारने का नाम तप है। योग को ब्रह्म विद्या और तप को साधना कहते हैं। इस प्रकार योग और तप, ब्रह्म विद्या और साधना दोनों का समुच्चय होने पर मनुष्य का भावनात्मक कायाकल्प होता है और व्यक्ति क्षुद्र से महान बन जाता है।

गहन चिंतन द्वारा भी आस्थाएँ जगाई जा सकती हैं, लेकिन उसमें तर्क का समावेश रहने के साथ-साथ श्रद्धा भी जुड़ी रहनी चाहिए। मात्र तर्क बुद्धि-विलास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चतुर वकील भी बहस द्वारा उन भ्रामक बातों को सिद्ध और प्रतिपादित करते देखे जा सकते हैं और उस बहस के कारण कई बार सच्चे लोग फँस जाते हैं तथा झूठे छूट जाते हैं। इसका कारण वकीलों की वह प्रभावशाली बहस ही है, जिसके लिये वकील अपना सारा बुद्धि-कौशल लगा देता है। इसलिए मस्तिष्क को माध्यम मानते हुए भी आस्थाओं का परिष्कार करने के लिए; उन्हें उच्चस्तरीय बनाने के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इस प्रयोजन के लिए तो एक ही अवलंबन समर्थ है और वह है अध्यात्म।

ऋतंभरा प्रज्ञा अध्यात्म का प्राण है। इसी को गायत्री कहते हैं। विवेक और श्रद्धा दोनों का समन्वय ऋतंभरा प्रज्ञा में होता है। विवेक अर्थात् दूरदर्शिता, श्रद्धा अर्थात् उच्चस्तरीय आस्थाओं में उल्लास भरी साधना अभिरुचि। यह भाव संवेदनाएँ—जिस चिंतन और जिस अभ्यास के द्वारा उभारी जाती हैं। वही ऋतंभरा प्रज्ञा है। संक्षेप में इसे प्रज्ञा भी कहा जा सकता है। गायत्री मंत्र की अंतरात्मा को प्रज्ञा की प्रेरणा बनाया गया है। यह तभी जीवित होती है, जब उसमें प्रेरणा देने और प्रवाह उत्पन्न करने की क्षमता हो। गायत्री मंत्र में सब कुछ विद्यमान है। उसके २४ अक्षरों में बीज रूप में मान्यताओं, संवेदनाओं और प्रेरणाओं का सुनियोजित तारतम्य विद्यमान है। युग परिवर्तन के लिए, लोकमानस को उच्चस्तरीय बनाने के लिए, इस अवलंबन के अतिरिक्त ऐसा कोई कारगर उपाय नहीं खोजा जा सका, जो मनुष्यों में देवोपम आस्थायें जगाने, प्रेरणाएँ उगाने और सक्रियता अपनाने के लिए अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचा सके।

उज्ज्वल भविष्य के निर्माण तथा प्रस्तुत विकृतियों का निवारण करने के लिए युगांतरीय चेतना द्वारा उभय-पक्षीय प्रयोजन संभव होने जा रहा है। प्रज्ञावतरण उसी के उदय और उद्भव का नाम है। इन दिनों इसी का अवतरण काल है। अरुणोदय की वेला सन्निकट है और नव प्रभात की संभावनाएँ प्रकट तथा प्रत्यक्ष होने जा रही हैं। विकृतियों और विपन्नताओं के अंधकार का निराकरण तथा प्रगति और उत्थान की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक ऊर्जा का संवर्धन जिस युग प्रभात में होने जा रहा है, उसी को अपने समय का अवतार कहना चाहिए। सामान्य स्तर के मानवी प्रयास इतने बड़े प्रयास में कम न पड़ जायें, इसके लिए सूक्ष्म जगत में युग-चेतना का विशिष्ट प्रादुर्भाव हो रहा है। युग समस्याओं के समाधान में प्रज्ञावतार महती और सफल भूमिका संपन्न कर सकेगा। यह इतना निश्चित है कि इसमें राई रत्ती भी संदेह नहीं किया जा सकता।

❐ ❐

# (ब) प्रज्ञा अभियान एवं धर्म-तंत्र के पुनर्जीवन में उसकी भूमिका

प्रज्ञा अभियान का शुभारंभ स्वतंत्रता प्राप्ति की घोषणा के दिन से होता है। राजतंत्र के कंधे पर भौतिक क्षेत्र की सुव्यवस्था, संपन्नता एवं सुरक्षा का त्रिविध उत्तरदायित्व रहता है। इतने भर को वह कर सके तो बहुत। इसके अतिरिक्त भी शांति और प्रगति के लिए और भी बहुत कुछ करने को रह जाता है। जिन कारणों से पिछड़ापन और पराभव लदता है, उसमें तीन विभीषिकायें प्रमुख हैं—(१) अनैतिकता (२) मूढ़ मान्यता (३) सामाजिक-अव्यवस्था।

भौतिक पक्ष की प्रगति राजतंत्र के कंधों पर है, आत्मिक क्षेत्र में उसकी गहरी पहुँच या पकड़ नहीं हो सकती। आस्थायें, विचारणायें एवं प्रवृत्तियाँ वस्तुतः मानवी विशेषताएँ हैं। उन्हें परिष्कृत करने के लिए जिन उपायों का अवलंबन किया जाना चाहिए, उनमें नैतिक क्रांति, बौद्धिक क्रांति एवं सामाजिक क्रांति आवश्यक है। क्रांति अर्थात् अवांछनीयताओं का उन्मूलन और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों का सुगठित संस्थापन।

यही है वह चिंतन, जिसने स्वाधीनता प्राप्ति के दिन से ही धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण की, युग-निर्माण की आवश्यकता पूरी करने का व्रत लिया और उसके लिए सुनिश्चित कार्यक्रम बनाया गया। पिछले ११-१२ वर्ष से इसी प्रक्रिया को स्वल्प साधन किंतु प्रचंड संकल्पों के साथ क्रियान्वित किया गया है।

इस दिशा में प्रथम कार्य यह था कि धर्म के नाम पर प्रचलित वर्तमान संप्रदायवाद और उसकी आड़ में पलने वाले अवांछनीय दुराग्रहों के संबंध में, सर्व-साधारण को यह बताया जाय कि वर्तमान प्रचलन न तो शाश्वत धर्म के मंतव्यों के अनुरूप हैं और न उनके साथ तात्त्विक प्रतिपादनों का कोई तालमेल है। इसके लिए पुरातन

धर्मशास्त्रों को सर्वसाधारण के लिए सुलभ कराया गया, ताकि उनकी प्रगतिशीलता और वर्तमान प्रतिगामिता का अंतर समझा जा सके। साथ ही धार्मिक कर्मकांडों के पीछे छिपी उन भावनाओं से भी जन-साधारण को परिचित कराया गया, जिनके बिना क्रिया-कृत्यों को मात्र ढकोसला और पंडा वर्ग का स्वार्थ साधन भर समझा जाने लगा है। धर्म-कृत्यों में षोडश संस्कार, पर्व-त्यौहार, तीर्थ यात्रा, देव-पूजन, कथा-कीर्तन, जप-यज्ञ आदि अनेकों प्रसंग आते हैं। इनके पीछे भावनात्मक-चारित्रिक-सामाजिक स्तर की ऐसी अगणित प्रेरणायें भरी पड़ी हैं, जिनके आधार पर लोक-शिक्षण ही नहीं, लोक निर्माण का प्रयोजन भी भली प्रकार पूरा होता है।

प्रज्ञा अभियान के अंतर्गत धर्म का तत्त्वदर्शन और क्रिया पक्ष इस प्रकार उभारा गया है कि उससे मानवीय चिंतन में उत्कृष्टता और चरित्र में आदर्शवादिता का समावेश कर सकना उत्साहवर्धक मात्रा में संभव हो सके। उपरोक्त दोनों ही प्रयोजनों के लिए प्राचीन धर्म-शास्त्रों का यथार्थवादी अनुवाद प्रकाशन किया गया। साथ ही कर्मकांडों की विधि-व्यवस्था के साथ ऐसी व्यवस्थायें जोड़ी गयीं, जिसमें उन्हें करने वाले ही नहीं देखने, सुनने वाले भी मानवीय गरिमा एवं उसकी जिम्मेदारी को प्राचीनतम किंतु साथ ही नवीनतम दृष्टिकोण में समझने, अनुप्राणित होने में समर्थ हो सकें।

हिंदू धर्म के दायरे में इन दिनों ८० लाख से अधिक घोषित धर्मजीवी, साधु-महात्मा हैं। उनके निर्वाह का खर्चीला रंग-ढंग जन साधारण को वहन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त धर्म क्षेत्र की अघोषित जन-शक्ति भी है, जो अपने समय का बड़ा भाग इन्हीं प्रयोजनों में खर्च करती है। इतना ही नहीं प्रकारांतर से दान-दक्षिणा का लाभ उठाती है। पुरोहित वर्ग इसी स्तर का है। इसकी संख्या एवं व्यय राशि भी उससे कम नहीं, जितनी कि घोषित धर्मजीवियों की। यह जनशक्ति की बात हुई। धर्म के नाम पर किये जाने वाले खर्चों का अनुमान लगाया जाय तो वह धनराशि सरकारी राजस्व से कम नहीं वरन् अधिक ही बैठती है। मंदिर, तीर्थ, धार्मिक मेलों,

कथा, कर्मकांडों पर होने वाली राशि का अनुमान लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि धर्म की दुर्गति एवं उपेक्षा के इस जमाने में भी कितनी जनशक्ति, कितनी धनशक्ति और कितनी भावनाशक्ति धर्म प्रयोजनों के निमित्त व्यय होती हैं ?'

भौतिक साधनों को ही सब कुछ न माना जाय। भावना और विचारणा की अपनी शक्ति है। उसे यदि सृजनात्मक सत्प्रयोजनों के लिए नियोजित किया जा सके, तो चमत्कारी परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। अस्सी लाख संत, सात लाख गाँव। एक गाँव पीछे साढ़े ग्यारह संत। यदि ये लोग राष्ट्र के भावना-क्षेत्र और साधना-क्षेत्रों को सँभालने में लग सकें तो उसकी परिणति राष्ट्रीय स्तर को उँचा उठाने में उससे कम किसी भी प्रकार न रहेगा, जैसा कि राजतंत्र द्वारा किया जाता है। ईसाई चर्चों के रचनात्मक प्रयास सर्वविदित हैं। उन्होंने संसार की एक-तिहाई जनता को देखते-देखते अपने धर्म में दीक्षित कर लिया। ऐसे ही प्रयत्न यदि संप्रदायगत प्रयोजनों से ऊँचे उठकर मानवीय उत्कृष्टता उभारने में लगाये जा सके होते, तो उसकी परिणति ऐसी होती जिसे अद्‌भुत आश्चर्यजनक कहा जा सके।

प्रज्ञा अभियान ने समानांतर धर्मक्षेत्र की स्थापना का संकल्प लिया और वह अब तक लगभग पाँच हजार अब तक प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण के रूप में पूरा हुआ। प्रज्ञा-संस्थान अर्थात् ऐसे तीर्थ स्थान, जो उन जागृति के केंद्रों की भूमिका निभा सकें।

प्रज्ञा-संस्थानों के साथ तीर्थ परंपरा का इतिहास जुड़ा है। तीर्थ के माहात्म्य से कथा-पुराणों के अधिकांश पृष्ठ भरे पड़े हैं। उनका आश्रय अनंत पुण्य-फलदायक बताया गया है। शास्त्रकारों ने उनकी महत्ता बखानने में अपनी लेखनी की समूची क्षमता निचोड़ दी है और जन-साधारण को उनसे संपर्क साधने के लिए असाधारण रूप से उत्तेजित किया है। तीर्थों के निर्माण में समर्थों से अपना वैभव-कौशल खपा देने के लिए पूरा दबाव डाला है।

क्रिश्चियन मिशन के तत्त्वावधान में अनेकों छोटे-छोटे धर्म संस्थान, ईसाई-धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए सारे संसार में काम कर रहे हैं। उन्हीं से आस-पास के इलाके में रचनात्मक प्रवृत्तियों का फैलाव तथा धर्म-प्रचारकों के निवास और निर्वाह की व्यवस्था होती है। वे लोग अपने इन धर्म केंद्रों के प्रति वही भाव रखते हैं, जो भारतीय लोग तीर्थों के प्रति रखते हैं। सिक्खों के गुरुद्वारे मात्र पूजा-स्थल ही नहीं होते वहाँ वे प्रवृत्तियाँ भी चलती रहती हैं, जो वहाँ पहुँचने वालों को सिक्ख-धर्म की प्रेरणा देती रहें।

तीर्थों की स्थापना में कई संतों का विशेष प्रयत्न रहा है। आद्य शंकराचार्य की प्रेरणा से भारत के चार कोनों पर चार धाम बनाये गये। अपने गुरु की उस आकांक्षा को पूरा करने के लिए उनके शिष्य मांधाता ने अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया और वह प्रयोजन पूरा ही कर दिखाया।

ब्रजधाम के अधिकांश तीर्थ कृष्ण भक्तों ने महाप्रभु चैतन्य के संकेतों पर बनाये। तभी से उस क्षेत्र में बने देवालयों का वर्तमान स्वरूप सामने आया। पुष्टिमार्गी संप्रदाय की बैठकें प्रायः उन सभी प्रमुख जगहों पर बनी हैं, जहाँ-जहाँ उनके धर्मगुरु उपदेश करते रहे, यही स्वामी नारायण संप्रदाय हुआ है। लगभग हर उस जगह में देवालय है, जहाँ उनके धर्मगुरु कुछ महत्त्वपूर्ण कृत्य करते रहे हैं।

देवालयों के साथ प्रेरणाओं को जोड़कर जन-संपर्क साधना ही तीर्थों का उद्देश्य रहा है। उसी दिशा में वे लोक-श्रद्धा को प्रभावित करते रहे, यह उद्देश्य पूरा होना चाहिए, तभी उनकी सार्थकता है।

भगवान बुद्ध की महत्त्वपूर्ण गतिविधियाँ जहाँ कहीं चलती रहीं, वहाँ या तो उन्हीं के सामने अथवा बाद में तीर्थ स्थान बन गये। अधिकांश बौद्ध विहार या तो स्वयं भगवान बुद्ध के धर्म-प्रचार केंद्र थे अथवा उनके किसी प्रमुख शिष्य के। अधिकांश संतों के कार्य क्षेत्रों में धर्म स्थान बनते गये। इनकी

स्थापना उन्होंने स्वयं कराई अथवा बाद में उनके अनुयायियों ने उनकी आकांक्षा—प्रेरणा के अनुरूप इनका निर्माण कराया, यह अनुसंधान का विषय है। परंतु इतना निश्चित है कि संतों की जीवनचर्या उनके बाद भी तीर्थों के रूप में प्रेरणा केंद्र बनकर गतिशील रही। उस प्रकाश की किरणें आज तक किसी न किसी रूप में फैल रही हैं।

जिन क्षेत्रों में भगवान के विभिन्न अवतारों के क्रियाकलाप विशिष्ट प्रेरणाएँ प्रस्तुत करते रहे हैं, वहाँ भक्तजनों ने तीर्थों की स्थापना की है। भगवान राम और कृष्ण की लीला का स्मरण दिलाने वाले अनेकों तीर्थ अभी भी उनकी लीला-भूमि में विद्यमान हैं। इन सब का एक ही उद्देश्य रहा है कि सर्व-साधारण को भगवान के अवतारों के प्रयोजनों का परिचय मिले, वे उससे प्रेरणा और प्रकाश पा सकें। इसीलिए इन तीर्थों को अवतारों का भावना शरीर कहा जाता है और उसी श्रद्धा-भावना से उनके सान्निध्य का प्रयास किया जाता है।

प्रज्ञा-संस्थानों के निर्माण के पीछे जो मूल उद्देश्य है, वह है रचनात्मक कार्यों के माध्यम से धर्म-तंत्र का पुनर्जीवन। व्यक्ति, परिवार तथा समाज के समग्र निर्माण, अभ्युत्थान के विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा जनचेतना का जागरण इन शक्तिकेंद्रों की स्थापना के बिना संभव था भी नहीं। तीर्थ भी पूर्व में जहाँ स्थापित किये गये थे, इसी उद्देश्य को लेकर ही उनका निर्माण हुआ था, सन् १९८० से १९८२ तक दो वर्ष जितनी स्वल्प अवधि में २४०० छोटे-बड़े प्रज्ञा संस्थानों का बन जाना और निकट भविष्य में इससे भी कई गुनी संख्या संभावित दीखना, एक आश्चर्य ही समझा जा सकता है। वैसा आश्चर्य, जैसा कि पौराणिक मत्स्यावतार के कथा प्रसंग में आता है। कहा जाता है कि ब्रह्माजी को अपने कमंडल में एक छोटी-सी कीड़ी दिखाई दी। उसे उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से घड़े में डाल दिया। देखते-देखते वह कीड़ी एक बड़ी मछली की तरह पूरे घड़े में भर गई। बाद में ब्रह्माजी ने उसे तालाब में पहुँचाया, फिर

सरोवर में, अंततः समुद्र में। विकास क्रम रुका नहीं। पूरे समुद्र में वह फैल गई तो ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान का अवतार माना और नतमस्तक होकर उनके आदेशानुसार अपना सामयिक कार्यक्रम बना लिया। प्रज्ञापीठों के विकास क्रम को मत्स्यावतार जैसा आश्चर्यचकित कर देने वाला विस्तार कहा जा सकता है। इसके पीछे ईश्वरीय इच्छा, प्रेरणा एवं सहायता का दर्शन जो करना चाहें—वैसा प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं।

अवांछनीयता का उन्मूलन और सत्प्रवृत्ति-संवर्धन की भावी योजना विश्वव्यापी है। उसे भारत से आरंभ भर किया जा रहा है। निकट भविष्य में वह विश्वव्यापी बनेगी। अभी उसको धर्मतंत्र के माध्यम से हिंदू संप्रदाय से शुभारंभ किया जा रहा है और वह दिन दूर नहीं, जब समस्त धर्मों और देशों में वहाँ की परिस्थिति के अनुरूप उसे स्थानीय एवं सामयिक हेर-फेर के साथ कार्यान्वित किया जायेगा। अभियान के सूत्र-संचालक संयोगवश भारत में हिंदू परिवार में जन्मे हैं, इसलिए उन्हें अपना कार्य संपर्क-क्षेत्र के परिचित लोगों से ही आरंभ करना पड़ा है। सूर्य पूर्व में उगा अवश्य है, पर वह उसी दिशा तक सीमित न रहेगा, उसका लाभ सभी दिशाओं को, सभी क्षेत्रों को मिलने जा रहा है। सुधार एवं सृजन के असंख्यों कार्य इन्हीं दिनों आरंभ करने हैं, इनमें कितनी जनशक्ति और कितनी साधन-शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी ? इसकी विशालता का आज तो अनुमान लगा सकना भी कठिन है। इसकी पूर्ति के लिए जाग्रत् लोकशक्ति का भावभरा सहयोग यदि मुट्ठी-मुट्ठी भी मिलने लगे, तो काम चल जायेगा। दबावभरी टैक्स व्यवस्था के आधार पर सरकारें चल रही हैं, तो कोई कारण नहीं कि भाव-श्रद्धा के सहारे उमड़े हुए स्वेच्छा-सहयोग के आधार पर वे कार्य पूरे नहीं हो सकेंगे, जो आज गोवर्धन उठाने या समुद्र पर पुल बाँधने जैसे कठिन व जटिल प्रतीत हो रहे हैं।

प्रज्ञा अभियान द्वारा धर्मतंत्र के माध्यम से जन-जन के मन में उत्कृष्ट आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना के लिए प्रबल प्रयत्न किये जा रहे हैं। प्रज्ञा-संस्थानों का विश्वव्यापी निर्माण कार्य इसी प्रयोजन के लिए हो रहा है। शुभारंभ की दृष्टि से यही नितांत आवश्यक भी था। छोटे-बड़े सभी महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए सर्वप्रथम स्थान की आवश्यकता पड़ती है, उसके बिना किसी प्रयोजन को कार्यान्वित करने की बात ही नहीं बन पड़ती। लोकमानस का भावनात्मक परिष्कार करने की दृष्टि से धर्मतंत्र को पुनर्जीवित एवं क्रियाशील बनाने की इन्हीं दिनों आवश्यकता पड़ी और उसके लिए सर्वप्रथम स्थान निर्माण की बात सोची गई। छोटे-बड़े प्रज्ञा-संस्थानों का निर्माण इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए किया जा रहा है।

प्राचीन काल में देवालयों, धर्मशालाओं एवं अन्नक्षेत्रों का निर्माण मात्र इसी उद्देश्य से किया गया था कि इन आच्छादनों के नीचे धर्मतंत्र का आलोक जन-जन तक पहुँचने का कार्य सुविधापूर्वक संपन्न होता रहे। इन संस्थानों में वे सभी सुविधा-साधन एकत्रित किये गये थे, जिनसे धर्म सेवा में निरत कार्यकर्त्ताओं का निवास-निर्वाह सरलतापूर्वक संपन्न होता रहे और वे शासन तंत्र की ही तरह धर्मतंत्र का सुनिश्चित लाभ जन-जन को उपलब्ध कराने में निश्चिंततापूर्वक संलग्न रह सकें।

समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी के नेतृत्व में देश को स्वतंत्र कराने का अभियान चलाया था। इसके लिए लोक-समर्थन एवं सहयोग अर्जित करने के लिए उनने महाराष्ट्र के हर गाँव में महावीर मंदिर बनाये थे। वे लागत की दृष्टि से अत्यंत सस्ते थे, पर दिन में शौर्य-साहस जगाने वाली व्यायामशाला और रात्रि को उच्च उद्देश्यों के लिए त्याग-बलिदान की प्रेरणा उभारने वाली रामकथा को देवालयों की अविच्छिन्न प्रक्रिया बनाया गया था। सभी जानते हैं कि वह प्रयास हर दृष्टि से सफल रहा। प्रज्ञा अभियान भी उसी की अनुकृति समझा जा सकता है। नैतिक, बौद्धिक और

सामाजिक कुरीतियों की गुलामी से मुक्ति दिलाने और व्यक्ति, परिवार एवं समाज का नव-निर्माण विनिर्मित करने के लिए प्रज्ञा-संस्थानों का बड़ी संख्या में बनना आवश्यक है। अभी २४०० बने हैं, तो अगले दिनों उनका २४ हजार की संख्या तक जा पहुँचना संभव है। देश के सात लाख गाँवों को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए चाहिए तो एक लाख, पर तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उनकी संख्या २४ हजार जितनी तो होनी ही चाहिए। इसकी संभावनाएँ बन रही हैं।

इन संस्थानों एवं उनके कार्यकर्त्ताओं का व्यय उन सहयोगियों के ज्ञान-घटों, धर्म-घटों से पूरा हो जाता है, जो मिशन के उद्देश्यों और कार्यक्रमों को देखकर प्रभावित हुए हैं और सहयोग करने के लिए अंतःप्रेरणा से ही आगे आये हैं। ज्ञानघट अर्थात् पुरुषों द्वारा दस पैसा नित्य प्रज्ञा-विस्तार के लिए निकालना, धर्म घट अर्थात् महिलाओं द्वारा एक मुट्ठी अन्न नित्य उन कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह के लिए निकालना; जो प्रज्ञा-संस्थानों के माध्यम से प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं सुधारात्मक प्रक्रिया में निरंतर संलग्न रहते हैं।

प्रज्ञा अभियान की धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण एवं लोक-निर्माण योजना लोगों के गले भली प्रकार उतरी है। उन्होंने माना है कि भारत जैसे अधिकांश अशिक्षित एवं प्रायः उतने ही सुदूर देहातों में बसे हुए लोगों की मनोभूमि को देखते हुए उनमें उपयोगी आरोपण करने के लिए एकमात्र धर्मदर्शन ही कारगर सिद्ध हो सकता है। अपने देश को बहुसंख्यक जनता में राजनीति, तर्कशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिक शास्त्र, मनोविज्ञान आदि गूढ़ विषयों की पृष्ठभूमि बनाकर विचार क्रांति के, युग-चेतना के सिद्धांतों को गले उतारना अति कठिन है। सरल यही है कि जो कहा जाता है; उसे धर्म मान्यता व कथा-प्रसंगों में कहा जाय। यह पृष्ठभूमि शिक्षितों और शहरी लोगों के लिए भी कम आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक नहीं है। समर्थ गुरु रामदास,

दयानंद, गोविंद सिंह, गाँधी, तिलक, मालवीय, विनोबा आदि धर्म को प्रमुखता देने वालों ने जितना जन साधारण का हृदय जीता और अनुप्राणित किया, उतना अन्य क्षेत्रों के नेता भावना क्षेत्र का स्पर्श करने में समर्थ नहीं हुए। इन दिनों जिस लोकमानस के परिष्कार की तात्कालिक आवश्यकता है, उसकी पूर्ति के लिए धर्मतंत्र को माध्यम बनाकर जितनी सरलता एवं सफलता के साथ आगे बढ़ा जा सकता है; उतना और किसी प्रकार नहीं। इस तथ्य को इस आधार पर हाथों-हाथ जाँचा-परखा जा सकता है कि प्रज्ञा अभियान के साधनहीन प्रयत्नों ने लाखों सहयोगी उत्पन्न किये हैं और उनके सहारे नवजागरण, सत्प्रवृत्ति संवर्धन एवं अनौचित्य उन्मूलन में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है।

❐ ❐

# प्रज्ञा अभियान के कार्यक्रम एवं भावी योजनाएँ

## ➢ कार्यकर्त्ता गोष्ठी

प्रस्तुत आस्था संकट को निरस्त करने में उस महाप्रज्ञा को उभारना पड़ेगा, जिसका अंतरंग जीवन में भाव-श्रद्धा एवं बहिरंग आचरण में आदर्शवादी निष्ठा के रूप में परिचय मिलता है। प्रज्ञा परिजनों के व्यक्तित्वों में इसी महाशक्ति का अवतरण इन दिनों हो रहा है। वे प्रथम प्रयास में प्रज्ञा-परिजनों के रूप में खोजे जा रहे हैं और प्रज्ञा-संस्थानों के साथ जुड़ी हुई सप्तसूत्री योजना को क्रियान्वित करते हुए अपनी विशिष्टता का; संगृहीत सुसंस्कारिता का परिचय दे रहे हैं।

दूसरे चरण में उनकी प्रतिभा अधिक प्रखर-परिपक्व होगी तो उसी अनुपात से उन्हें जन-समुदाय की हेय प्रवृत्तियाँ उलट देने और इस स्थान पर सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए विवश कर देने की क्षमता से ओत-प्रोत देखा जायेगा। प्रज्ञा-पुत्र इसी वर्ग का नाम है, वे सर्वप्रथम आत्म निर्माण में प्रवृत्त होंगे और तदुपरांत आग के संपर्क में आने वाले ईंधन के प्रज्ज्वलित होने का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। चिंतन और चरित्र में एकरूपता रखने वाले महामानव समय-समय पर असंख्यों को अनुकरण की प्रेरणा देते रहे हैं और पतन के गर्त से उबार कर आकाश में उछाल देने जैसे चमत्कार प्रस्तुत करते रहे हैं। ऐसे ही जाँबाजों ने अपने कंधों पर बिठाकर अगणितों को पार करते रहने का उत्तरदायित्व निभाया है।

तीसरे चरण में उनकी आवश्यकता पड़ेगी, जिन्हें कॉलेज में पढ़ाने वाले प्रोफेसर, पुल बनाने वाले इंजीनियर अणुशक्ति ढूँढ़ निकालने जैसे वैज्ञानिक कहा जा सकता है। सेनापति सैकड़ों सैनिकों में उमंगें भरता और कठिन मोर्चे पर लड़ता-जीतता चला

जाता है। एक इंजन हजारों टन माल से लदे डिब्बों को घसीट ले जाता है। तूफान के साथ कितने तिनके, पत्ते आकाश पर छाये दीखते हैं। वर्षा काल समूचे भूमंडल पर हरियाली उगाता और जल जंगल एक करता चला आता है। समूचे आकाश में एक सूर्य उगता है और व्यापक अंधकार की सत्ता उखाड़कर रख देता है। रात्रि में चंद्रमा की शोभा देखते ही बनती है। यह सभी अकेले होते हैं। साथ किसी का नहीं ढूँढ़ते। अपने ही पराक्रम में आप उछलते हैं और चुंबक के साथ खिंचते चले जाने वाले लौह-कणों की तरह असंख्यों को चिपक जाने तथा साथ चलने के लिए विवश करते हैं।

कार्य तो प्रतिभाएँ ही करती हैं, पर सरंजाम खड़ा करने के लिए साधन तो चाहिए ही। ड्राइवर का कौशल तभी प्रकट होता है, जब उसके हाथ में इंजन या मोटर हो। बिना जहाज के पायलेट क्या करे ? भवन बनाने की योजना तो आर्किटेक्ट ही बनाते हैं, पर निर्माण कार्य ईंट, चूना, लोहा, लकड़ी जुटाये बिना कहाँ होता है। चारों धाम आद्य शंकराचार्य की प्रेरणा से बने, पर उनके लिए धन और साधन तो मांधाता ने जुटाये। धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन तो भगवान बुद्ध ही कर रहे थे, पर उसका विशालकाय ढाँचा खड़ा करने में हर्षवर्धन, अशोक, अंगुलिमाल, अंबपाली जैसे संपन्न और आनंद, कुमारजीव जैसे विद्वानों का परोक्ष सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था, गाँधीजी की प्रवृत्तियों में अरबों-खरबों की राशि लगी और नेहरू और पटेल जैसी प्रतिभाओं की मंडली प्राण-प्रण से जुटी रही। महान परिवर्तनों में इन्हीं हनुमान-अर्जुनों की जरूरत पड़ती है, जो न केवल पराक्रम करें वरन् अपने कौशल से आवश्यक साधन भी जुटा सकें, साधनों का हर काम में महत्त्व है। साधन जुटाने वालों की वरिष्ठता से इनकार नहीं किया जा सकता। भामाशाहों को भी प्रताप की तरह श्रेय-सम्मान मिलता रहेगा।

प्रज्ञा अभियान का तृतीय चरण जितना भारी है, उतना ही उस भार का वहन कर सकने वाले मूर्धन्यों का महत्त्व है। प्रज्ञा

परिजन सहयोग देंगे। प्रज्ञा-पुत्र नेतृत्व करेंगे और प्रज्ञा-पुंज साधन जुटाने का वह कार्य संपन्न करेंगे, जैसे शरीर को जीवित रखने में रक्त की महत्ता मानी जाती है।

प्रथम चरण वह है, जिसमें ढूँढ़ा-तलाशा जा रहा है कि नर पामरों के झुंड में जाग्रत् आत्माएँ कौन और कहाँ हैं ? प्रसुप्ति के मध्य जो आगे होते हैं, उन्हीं पर पहरेदारी की जिम्मेदारी भी अनायास ही आ पड़ती है। चोरी हो जाने पर गहरी नींद में पड़े हुओं को निर्दोष समझा जाता है—किंतु जो जागे हुए हैं, जिन्हें पता है, जो आँखों से देख रहे हैं, इतने पर चिल्लाकर दूसरों को जगा देने एवं चोरों को भगाने का उपक्रम न करके मूक दर्शक भर बने रहते हैं, तो उन्हीं पर उस दुर्घटना का सारा दोष लदता है। भर्त्सना उन्हीं की होती है। उस घटना को टालने में यदि कुछ पराक्रम दिखाते हैं तो प्रशंसा उन्हीं की होती है। सोये हुए इस दृष्टि से नफे में रहते हैं। भले ही माल चला जाता है, पर निंदा-स्तुति के झंझट से बचे रहते हैं।

इन दिनों अधिकांश जन-समुदाय ऐसा है जो विवेकशीलता, दूरदर्शिता, प्रखरता, परमार्थ-परायणता, सद्भावना जैसी मानवोचित सत्प्रवृत्तियों से अपरिचित तो नहीं पर अछूता-अनभ्यस्त अवश्य कहा जा सकता है। उसे मात्र अपने पेट-परिवार की चिंता है। लोभ-मोह के अतिरिक्त और किसी से कोई वास्ता नहीं। वासना-तृष्णा की पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। स्वार्थांधता ही उनकी सीमा परिधि है।

इस कूड़े-करकट में उपयोगी वस्तु कैसे ढूँढ़ निकाली जाये ? मृतकों के ढेर में से जीवितों को छाँटना और उनका उपचार करके फिर गतिवान बना देना कैसे संभव हो ? इसकी जाँच-पड़ताल ही प्रज्ञा-अभियान का प्रथम चरण है।

प्रज्ञा अभियान के प्रथम चरण के अंतर्गत धर्मतंत्र को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से प्रज्ञा-संस्थानों का निर्माण किया जा रहा है। इसके लिए प्रयत्न वहीं करेंगे, सहयोग वही देंगे, जिन्हें

उद्देश्य की दृष्टि से जर्जर वर्तमान मंदिरों के स्थान पर धर्म और अध्यात्म की आत्मा को फिर से प्रतिष्ठापित करने का औचित्य प्रतीत होगा। समय की आवश्यकता समझने और नवसृजन की आवश्यकता अनुभव करने के उपरांत जिनने यह कार्य हाथ में लिये हैं, उन्हें आदर्शवादिता की कसौटी पर 'प्राणवान' कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

प्रज्ञा-संस्थानों के साथ कुछ कार्यक्रम जोड़े गये हैं। इसके सात सूत्र प्रख्यात हैं—(१) घर-घर प्रज्ञा साहित्य पढ़ाना (२) जन्म दिवसोत्सवों की पारिवारिक गोष्ठियाँ (३) ज्ञानरथों की तीर्थयात्रा (३) दीवालों पर आदर्श-वाक्य लेखन (५) नवरात्रि आदि पर्व आयोजन (६) स्लाइड प्रोजेक्टर, टेप-रिकार्डर आदि के माध्यम से जन-जागरण (७) इन कार्यक्रमों को प्रज्ञा-संस्थान के साथ योजनाबद्ध करके व्यापक बनाया जा रहा है। जहाँ इनकी स्थापना हुई है; वहाँ शिक्षा-प्रसार, स्वास्थ्य-संरक्षण आदि सत्प्रवृत्ति-संवर्धन के स्थानीय कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। जन-संपर्क के लिए टोलियाँ बनाकर निकालना और युगांतरीय चेतना का प्रकाश घर-घर पहुँचाना, मिशन के कार्यकर्त्ताओं का प्रमुख कार्य है। साथ-साथ कई प्रकार की रचनात्मक प्रवृत्तियों का बीजारोपण एवं अवांछनीयताओं के उन्मूलन का प्रयत्न भी चलता रहता है।

यह कार्यक्रम हैं तो छोटे एवं आरंभिक, पर इन्हें गतिशील बनाने के लिए भावनाशीलों के समयदान, अंशदान की आवश्यकता तो अनिवार्य रूप से रहेगी। इसके बिना बातों के बताशे बनाते रहने से एक कदम भी प्रगति नहीं होगी। भावनाएँ उभारने में समयदान और साधन जुटाने में अंशदान की, इस प्रयोजन के लिए अपरिहार्य अपेक्षा है। इसी की याचना युग-देवता ने प्रत्येक जीवंत-जाग्रत् आत्मा से की है।

प्रज्ञा परिवार की सदस्यता की प्राथमिक शर्त प्रतिदिन एक घंटा समय और दस पैसा नित्य ज्ञान-यज्ञ के लिए नियमित रूप से निकालते रहना है। जो विचारधारा से प्रभावित होंगे, वे ही अनुदान

अत्यंत छोटा होने पर भी दे सकने का साहस सँजोयेंगे। अन्यथा समयदान की बात व्यस्तता बताकर और अंशदान की बात तंगी-महँगाई की आड़ लेकर सहज ही असमर्थता व्यक्त की जा सकती है। सहयोग गिलहरी या शबरी जितना सही, देने की हिम्मत तो उन्हीं को पड़ेगी, जिनके अंतराल में उत्कृष्टता के प्रति भाव-श्रद्धा का बीजांकुर उगा और हरा-भरा हो गया है।

दूसरे चरण को माध्यमिक पाठशाला की शिक्षा कह सकते हैं, उनमें किशोरों और युवकों को अपने करतब दिखाने का अवसर मिलेगा। सद्भावनाओं को उत्तेजित कर देना एक बात है, पर उनमें परिपक्वता तो दीर्घ काल तक अभ्यास करते रहने के बाद ही आती है। सत्प्रवृत्तियों के सहारे ही सद्भावनाएँ-सुसंस्कारिता के रूप में विकसित होती हैं। आत्मशक्ति की जागृति, प्रखरता एवं परिपक्वता के लिए आवश्यक है कि भावना-क्षेत्र की सेवा-साधना में प्रवृत्त हुआ जाये। साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ अथवा परिव्राजक जीवन में उपासना ही नहीं, जीवन साधना और लोक सेवा की आराधना भी करनी पड़ती है।

दूसरे चरण के दस सूत्र हैं। पाँच सृजनात्मक-पाँच सुधारात्मक। अपने देश की वर्तमान परिस्थितियों में इन्हें हर दृष्टि से प्राथमिकता मिलनी चाहिए। सृजनात्मक कार्यक्रमों में (१) शिक्षा विस्तार (२) स्वास्थ्य-संवर्धन (३) स्वच्छता-श्रमदान (४) गृह उद्योग एवं सहकार (५) हरीतिमा विस्तार है। सुधारात्मक कार्यक्रमों में (१) नशा निवारण (२) शादियों में धूमधाम भरी बर्बादी का प्रतिरोध (३) हरामखोरी का तिरस्कार (४) फैशन-फिजूलखर्ची की रोकथाम एवं (५) अवांछनीयताओं के उन्मूलन को लिया गया।

## (१) शिक्षा विस्तार

अपने देश में लगभग ५० प्रतिशत अशिक्षित हैं अर्थात् वर्तमान जनसंख्या में से ही करीब ५० करोड़ अशिक्षितों के रहते न भौतिक प्रगति हो सकती है, न आध्यात्मिक। जानकारियों और विचारणाओं का क्षेत्र सीमित रहने पर मनुष्य कूप-मंडूक ही बना रहेगा। न अनगढ़पन खलेगा और न समय के साथ कदम बढ़ाने

का उत्साह ही उत्पन्न होगा। प्रगति के लिए शिक्षा की आवश्यकता को अनिवार्य ही माना जाना चाहिए। यह पेट भरने के उपरांत दूसरी आवश्यकता है; जिसकी पूर्ति हर हालत में होनी ही चाहिए।

यह कैसे संभव हो ? हमें हर काम के लिए सरकार का मुँह ताकने की आदत है। यह भुला दिया जाता है कि सरकार के साधन बहुत सीमित हैं। उसके लिए बालकों के शिक्षा-साधन जुटाना तक कठिन पड़ रहा है, तो फिर ५० प्रतिशत नर-नारियों को साक्षर बनाने की—अत्यंत व्ययसाध्य योजना को पूर्ण करने की आशा उससे कैसे की जाय ? यह कार्य जनस्तर पर ही हो सकता है। हर शिक्षित से संपर्क साधा जाये। उसे विद्या-ऋण चुकाने के लिए एक-दो घंटे नित्य देते रहने के लिए मनाया जाये। इस आधार पर गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले नर-नारियों की प्रौढ़ पाठशालाएँ चलें, बच्चों को सुसंस्कारी बनाने तथा स्कूली पढ़ाई को परिपुष्ट करने के लिए भी ऐसा ही प्रबंध हो। इसके लिए ऐसा सेवा-सहयोग प्राप्त करके, अनपढ़ों में उत्साह जगाने और स्थान आदि का सुयोग बिठाने का त्रिविध कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। जनस्तर पर यह प्रयास चल पड़े—जन आंदोलन चल पड़े, तो इसके सहारे इस अत्यंत आवश्यक एवं दुरूह कार्य को संपन्न कर दिखाना भी कुछ कठिन न रहेगा।

## (२) स्वास्थ्य-संवर्धन कार्यक्रम

इसमें कितने ही तथ्यों का समावेश है। संतुलित आहार, संयम, उपयुक्त दिनचर्या, प्राकृतिक रहन-सहन, भाप से भोजन पकाना, आसन, प्राणायाम, खेलकूद, परिचर्या, चरित्र-विद्या, शिशुपालन एवं जड़ी-बूटियों से सामान्य रोगों के उपचार के लिए बौद्धिक एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था। गिरते लोक-स्वास्थ्य को इन्हीं प्रयत्नों से सफलता मिलेगी। संपन्नता बढ़ने-साधन जुटने की प्रतीक्षा में इसके लिए रुका नहीं जा सकता। आहार के कुपोषण को कम करने के लिए घरों में शाक-वाटिका लगानी होगी। भोजन पकाने की पद्धति में क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे। आहार-विहार

संतुलित करने के संबंध में अपने देश की स्थिति को देखते हुए जन-साधारण को वर्णमाला पढ़ाने जैसी जानकारी कराने एवं आदत डालने की आवश्यकता पड़ेगी। व्यायाम, खेलकूद का नया माहौल बनाना होगा। प्रजनन में संयम बरतने और शिशु-पालन का ककहरा पिछड़े देहाती क्षेत्रों में नये सिरे से पढ़ाना होगा।

## (३) स्वच्छता-श्रमदान की उभयपक्षीय प्रवृत्तियाँ

यह मलीनता, कुरूपता एवं रुग्णता के निवारण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। लोगों में नवसृजन की गतिविधियों में सामूहिक श्रमदान के लिए उत्साह उत्पन्न किया जाय। गली-कूचों में गाँव के इर्द-गिर्द फैले हुए कूड़े-कचरे और मल-मूत्र से किस प्रकार दुर्गंध उठती, बीमारी फैलती तथा बहुमूल्य खाद की बर्बादी होती है। इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि तनिक-से आलस्य-प्रमाद से स्वास्थ्य-संकट के अतिरिक्त उपज में, अर्थव्यवस्था में कितनी भारी क्षति पहुँचती है। जापान में मनुष्य के मल-मूत्र को सुनहरा खाद कहा जाता है और गोबर के स्थान पर उसी से बहुमूल्य खाद बनाकर उपज का कीर्तिमान बनाया जाता है। देहातों में मानवी-मलमूत्र के सदुपयोग की कोई व्यवस्था नहीं। सोख्ता, पेशाबघर और गड्ढे-वाले पाखाने हर गाँव में आसानी से बन सकते हैं। शहरी और ग्रामीण जनसंख्या को मिला देने में करीब ८८ करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं, जिनका मल-मूत्र खेत, खलिहान, मैदान, नाली, गली में यों ही फैलता बहता रहता और सड़न उत्पन्न करता है।

कृषि विशेषज्ञ डब्ल्यू० टावरेशन के अनुसार मनुष्य के मल की खाद के रूप में कीमत प्रतिमाह प्रति व्यक्ति पंद्रह रुपये और प्रति वर्ष १८० रुपये होती है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के मल का उपयोग हो सके तो १८० रुपये की अच्छी किस्म की खाद तैयार हो सकती है। उपयोग न हो पाने के कारण प्रति व्यक्ति १८० रुपये वार्षिक की राष्ट्रीय क्षति होती है। आँकड़े बताते हैं कि देश को ६५ करोड़ व्यक्तियों के १८० रुपये प्रति व्यक्ति के हिसाब से कुल १७१ अरब

५ करोड़ रुपये की सुनहरी खाद से प्रति वर्ष वंचित रह जाना पड़ता है। पाँच वर्षों में यह क्षति ८५५ अरब २५ करोड़ रुपये तक जा पहुँचती है।

हर गाँव में सफाई कर्मचारियों की नियुक्ति कठिन है। पर श्रमदान का उत्साह उत्पन्न करके, इस आधार पर गली-कूचों का कूड़ा-करकट खाद के गड्ढों तक पहुँचाया जा सकता है। घरों की तथा कुँओं की सड़ती-हुई नालियों की निकासी का प्रबंध हो सकता है। कुँए, तालाब की सफाई होती रहे तो भी बढ़ती हुई बीमारियों की रोकथाम हो सकती है और कुरुचिपूर्ण वातावरण का, गंदगी सहन करने वाले स्वभाव का कायाकल्प हो सकता है। जो जनता सरकार को इतना टैक्स दबाव से दे सकती है, इसकी कर्त्तव्य-बुद्धि जागने पर समय तथा साधनों का इतना अंश भी स्वेच्छा-सहयोग से मिल सकता है, जिसके सहारे स्वास्थ्य-संवर्धन की प्रक्रिया अपने बलबूते अपने हाथ-पैरों के सहारे संपन्न की जा सके।

## (४) गृह-उद्योग एवं सहकार

लुहार, बढ़ई, दर्जी, कुम्हार, धोबी, ग्वाला, जुलाहे जैसे पुरातन गृह-उद्योगों को नये सिरे से—नये ज्ञान का समन्वय करते हुए सहकारी व्यवस्था के अंतर्गत आरंभ किया जा सके तो करोड़ों नर-नारियों को बेकार समय काटने की अपेक्षा कुछ आजीविका कमाने और सृजन-कौशल बढ़ाने का लाभ मिल सकता है। शिक्षितों के लिए छोटी-छोटी मोटरों से चल सकने वाले अनेकों गृह-उद्योग लग सकते हैं। यदि नौकरों को तलाशने, बेकार फिरने, खीझकर अपराधों में प्रवृत्त होने का प्रवाह बदलने की उस प्रक्रिया को अपनाने की प्रवृत्ति जगाई और अभ्यास में लाई जाये।

आलस्य-प्रमाद ने अपने देश में एक भयावह बुराई का रूप धारण कर लिया है। कामचोरी, हरामखोरी में बड़प्पन समझा जाने लगा है। श्रम-जीवियों को हेय-अछूत माना और तिरस्कृत किया जाना रहा है। फलतः गरीबी-बेकारी की समस्या दिन-दिन विकट

होती जा रही है। इस संदर्भ में गृह-उद्योगों के प्रति नये सिरे से उत्साह उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

जापान में हर घर में छोटी मशीनों में गृह उद्योग लगाकर विभिन्न यंत्रों के कल-पुर्जे बनाये जाते हैं। इन्हें एकत्रित करके ऐसे उपकरण बनाये जाते हैं, जो संसार भर के विभिन्न बाजारों पर अपना आधिपत्य कर सकें। अभी भी विश्व-व्यापार में जापान का मूर्धन्य स्थान है। छोटे से देश ने इतनी प्रगति मात्र कुटीर-उद्योगों के आधार पर की है। सस्तेपन और क्वालिटी की दृष्टि से, उन्होंने इसी नीति को अपनाकर अन्य देशों को पीछे छोड़ दिया है। अपने देश की स्थिति जापान जैसी तो नहीं है, पर इतना अवश्य हो सकता है कि हाथ से चलने वाले या जहाँ बिजली है, वहाँ छोटी मशीनों के सहारे चल सकने वाले कुटीर-उद्योग गाँव-गाँव तक लगाये जायें और बढ़ती हुई बेकारी तथा गरीबी का प्रश्न हल किया जाये। मात्र खेती या नौकरी के सहारे देश की अर्थव्यवस्था सुस्थिर नहीं रखी जा सकती।

कहाँ किन उद्योगों की गुंजायश है ? यह तो स्थानीय परिस्थितियाँ देखकर ही निर्णय हो सकता है, पर इतना निर्धारण पहले से ही करना होगा कि यह सभी प्रयास सहकारी संगठनों के ही अंतर्गत चलेंगे। कच्चा माल देने, बना खरीदने और उसे उपयुक्त मंडियों में खपाने का काम यह संगठन ही करेंगे। अन्यथा निर्माता ही यह सारे काम स्वयं करेगा तो प्रतिस्पर्धा के युग में वह ठहर नहीं सकेगा। सरकार पर भी यह दबाव डालना होगा कि वह कुटीर उद्योगों के सुरक्षित क्षेत्र से बड़े मिल-कारखानों को प्रतिस्पर्धा न करने दे। खादी के युग की तरह कुटीर-उद्योग के बने माल को प्राथमिकता देने के लिए जन-आंदोलन खड़ा करना होगा।

## (५) हरीतिमा विस्तार

वृक्षों के घटने से जीवन के उपयुक्त प्राणवायु का अनुपात कम होता जा रहा है। वर्षा के पानी में भूमि कटती है। पत्तों को खाद न मिलने से उसकी उर्वरता कम होती है। वर्षा में भी कमी पड़ती है।

इमारती तथा जलाऊ लकड़ी में भी कमी पड़ती है। इमारती तथा जलाऊ लकड़ी का दाम दिन-दिन बढ़ता है। हरीतिमा घटने पर मौसम का संतुलन डगमगाता है। खाद्य संकट उभरता है तथा अन्यान्य ऐसे असंख्यों कारण हैं, जो दिन-दिन कम होते जाने वाले वृक्षों के कारण संपन्नता तथा तंदुरुस्ती पर बुरा प्रभाव डालते हैं। इन खतरों को देखते हुए वृक्षारोपण के लिए जन-जन में उत्साह उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

जहाँ भी खाली जगह हो, फलदार, छायादार या जलाऊ लकड़ी के पेड़ लगाये जायें। उनका पालन पशु-पालन तथा शिशु पालन की तरह उत्साहवर्धक उपयोगी माना जाय। आँगन-बाड़ी, छत बाड़ी, छप्पर बाड़ी का प्रचलन हर घर में किया जाय; ताकि आर्थिक बचत होने के साथ-साथ कुपोषण दूर करने का आधार बने एवं घरों की शोभा-सौंदर्य बढ़ाने का प्रवाह चल पड़े—

प्रज्ञा-संस्थानों द्वारा हाथ में लिये गये द्वितीय चरण के पाँच सुधारात्मक कार्यक्रम इस प्रकार हैं

## (१) नशा निवारण

भांग, अफीम जैसे नशेबाजी की आदतें छुड़ाने—जो चंगुल में नहीं फँसे हैं, उन्हें बचाने के लिए प्रचंड लोकशिक्षण। इन्हें छुड़ाने की प्रतिज्ञा करने वाले धार्मिक आयोजन। भारत की कुल जनसंख्या में से करीब २५ प्रतिशत को तंबाकू का किसी रूप में सेवन करते मान लिया जाय, तो करीब २४ करोड़ व्यक्ति औसतन १०० रुपया प्रतिमाह मात्र विभिन्न रूपों में तंबाकू खरीदने में खर्च करते हैं। यह राशि कुल मिलाकर २ खरब ८८ अरब रुपये प्रतिमाह आती है। इन सभी नशों का सेवन धीमी आत्महत्या के समान है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक-प्रखरता, अर्थ-व्यवस्था, परिवार-परंपरा, प्रतिष्ठा की दृष्टि से नशेबाजी को सर्वनाशी ही माना जा सकता है। इस दुर्व्यसन से व्यक्ति और समाज हर दृष्टि से नीचा गिरता जा रहा है।

बाढ़, भूकंप, दुर्भिक्ष, महामारी जैसी दैवी विपत्तियों से भी बढ़कर मनुष्य-कृत्त नशेबाजी की विनाश-विभीषिका के विरुद्ध

प्रभावी संघर्ष छेड़ने की आवश्यकता है। प्रज्ञा अभियान में, गायत्री यज्ञों की पूर्णाहुति में तथा जन्म-दिवसोत्सवों में बुराइयाँ छोड़ने के जो संकल्प कराये जाते हैं, उनमें अब तक लाखों ने नशा छोड़ा है। इससे भी बड़े कारगर उपाय ऐसे अपनाने होंगे, जिनसे इस दुष्ट व्यसन के प्रति हैजा, मलेरिया जैसी चिंता की जाय और सतर्कता बरती जाय।

## (२) शादियों में धूमधाम-भरी बर्बादी का प्रतिरोध

सभी जानते हैं कि खर्चीली शादियाँ अपने समाज को दरिद्र और बेईमान बनाये दे रही हैं। हर गृहस्थ को अपनी प्रायः एक तिहाई आमदनी इसी कुप्रथा में खर्च करनी पड़ती है। लड़के वाला दहेज माँगता है और लड़की वाला जेवर तथा धूमधाम। इससे दोनों पक्ष दिवालिया होते हैं। समूचे परिवार को अर्थसंकट में धकेलते हैं और शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय आदि आवश्यक कार्यों के लिए जिस पूँजी की आवश्यकता होती है, उसके चुक जाने पर भाँति-भाँति के संकट सहते हैं। कितनी ही सुयोग्य लड़कियाँ इसी कुचक्र में पिसकर कुँवारी रहती और तरह-तरह के त्रास सहती हैं।

गाँवों की कुल जनसंख्या ७० करोड़ है। २५ करोड़ व्यक्ति शहरों में रहते हैं। ५ व्यक्तियों का एक परिवार माना जाये तो कुल ग्रामीण परिवारों की अनुमानित संख्या होती है चौदह करोड़ तथा शहरी परिवारों की अनुमानित संख्या होती है पाँच करोड़। औसतन गाँवों में प्रति विवाह पाँच हजार और नगरों में प्रति विवाह बीस हजार खर्च होता है।

इस प्रकार गाँवों तथा शहरों में होने वाले प्रतिवर्ष विवाहों में लगभग १७ खरब रुपये बेकार नष्ट हो जाते हैं।

इस कुप्रथा के विरुद्ध विचारशील लड़के-लड़कियों से देन दहेज वाली खर्चीली शादी न करने की प्रतिज्ञाएँ करायी जानी चाहिए। अभिभावकों को बिना खर्चे के विवाह करने के लिए सहमत किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में छोटी उपजातियों का सीमाबंधन

शिथिल करके, दायरा बड़ा किया जाना चाहिए। प्रज्ञा-परिवार के लाखों सदस्य अपने सुधारवादियों में बिना खर्च की आदर्श एवं सामूहिक शादियाँ करने लगे हैं। अब उस शुभारंभ को देश भर में व्यापक प्रचलन के रूप में सुविस्तृत किया जाना चाहिए।

## (३) हरामखोरी-कामचोरी का तिरस्कार

आलस्य और प्रमाद में समय गुजारना, खाली रहना-बड़प्पन का चिह्न और कड़े परिश्रम को दुर्भाग्य मानना। कामचोरी, हरामखोरी को शान-सौभाग्य और पसीना बहाने वालों को हेय समझने की प्रवृत्ति ने देश को दरिद्र और व्यक्ति को पिछड़ेपन से ग्रस्त बनाया है—इस स्थिति को उलटना। श्रम को सम्मानित करना और हरामियों का मुँह काला करने वाला वातावरण बनाना ताकि समृद्धि और प्रगति का द्वार सच्चे अर्थों में खुल सके।

## (४) फैशन-फिजूलखर्ची आदि की रोकथाम

फैशन, श्रृंगार, ठाठ-बाट, जेवर आदि के नाम पर अहंकार का प्रदर्शन का जो बचकानापन इन दिनों चल पड़ा है, उसमें विलासिता, कामुकता, उच्छृंखलता आदि दुर्व्यसनों की ही वृद्धि हुई है। ईर्ष्या भड़की है और नकल करने की धुन में कितनों ने ही गरीब रहते हुए भी अमीरों की झूठी-सज्जा सजाई है। बढ़े हुए खर्च की पूर्ति के लिए अनाचारी आमदनी की राह बनाई है। आलस्य-प्रमाद आदि बढ़ा है। इस प्रकार खर्च होने वाली राशि अल्प-बचत जैसा उपाय अपनाकर बैंक में जमा की गई होती या उत्पादन कार्य में लगाई गई होती, तो सादगी के साथ जुड़ी हुई सज्जनता बढ़ती और बचाई हुई राशि से व्यक्ति तथा समाज की समृद्धि बढ़ने में योगदान मिलता।

अपव्ययों में एक संतान की संख्या बढ़ाना भी है। इन दिनों प्रस्तुत जनसंख्या के लिए ही अन्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा के साधन इतने व्यक्तियों के लिए उपलब्ध नहीं है, फिर अनावश्यक संख्या में उत्पन्न की जाने वाली भावी पीढ़ी के लिए निर्वाह एवं

विकास के साधन कहाँ उपलब्ध होंगे ? अभिभावकों का अर्थ संतुलन, माता का स्वास्थ्य, बच्चों का भविष्य और देश का भार इस अनावश्यक प्रजनन से गिरता ही चला जा रहा है। हर व्यक्ति को समझना चाहिए कि उत्पादन नहीं बढ़ रहा है, तो कम से कम अपव्ययों को तो नहीं ही बढ़ावें।

## (५) अवांछनीय उन्मूलन

अवांछनीयताओं में कितनी ही ऐसी हैं, जिनसे जितनी जल्दी पीछा छुड़ाया जा सके उतना ही उत्तम है। मूढ़-मान्यताओं में टोना-टोटका, भूत-पलीत, भाग्य-ज्योतिष, मुहूर्त, शुभ-अशुभ, जैसे कितने ही अंधविश्वास पिछड़े वर्गों में फैले हैं और उस भ्रम-जंजाल में वे बुरी तरह समय गँवाते, पैसा ठगते और भ्रांतियों में उलझते हैं।

कुरीतियों में जाति-पाँति के नाम पर चलने वाली ऊँच-नीच की मान्यता, पर्दा-प्रथा, दहेज, मृतक-भोज, बाल-विवाह भिक्षा व्यवसाय जैसी कितनी ही कुप्रथाएँ जड़ जमाये बैठी हैं, जिससे समाज हर दृष्टि से जर्जर हुआ जा रहा है।

अनैतिकताओं में मिलावट, रिश्वत, ठगी, अपहरण, उत्पीड़न से लेकर हत्या-डकैती तक की अपराधी-वृत्तियाँ आतंक मनाती, आशंका, अविश्वास, अनिश्चितता एवं अराजकता जैसी स्थिति उत्पन्न करती है। अवांछनीय-आकर्षण एवं दबाव के कारण चिंतन एवं चरित्र का निरंतर अधःपतन होता जा रहा है।

अपने देश की उपरोक्त समस्याएँ तो प्रमुख हैं, इनके अतिरिक्त भी ऐसी अनेकों उलझनें हैं, जिन्हें सुलझाया जाना है। ऐसी असंख्यों आवश्यकताएँ हैं जिन्हें पूरा किया जाना है।

प्रारंभिक योजना में उसी द्वितीय चरण के अंतर्गत इन दस कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जा रहा है। इस माध्यम से व्यक्ति, परिवार, समाज तीनों का ही समग्र निर्माण कर सकने में प्रज्ञा अभियान सफल होगा, ऐसी इसके प्रवर्तक आशा करते हैं।

प्रज्ञा अभियान का तीसरा चरण पंचसूत्री है। उसकी मोटी रूपरेखा इस प्रकार है :—

(१) युग साहित्य का सृजन और उसे देश के विश्व के हर भाषा-भाषी तक पहुँचना एक बड़ा काम है। विचार-क्रांति के बिना लोक-मानस को उलटना संभव नहीं। यह इन दिनों उतनी सरलता पूर्वक वाणी से नहीं हो सकता, जितना लेखनी से। मुद्रण की सहायता से युगांतरीय-चेतना को हर शिक्षित तक पहुँचाया जा सकता है। शिक्षितों के मुँह से क्रांतिकारी चर्चाएँ अशिक्षितों के कानों तक पहुँचती हैं और यदि उनमें तर्क, तथ्य, प्रमाण, न्याय, औचित्य का पुट है, तो निश्चित रूप से वह जन-मानस में अपना स्थान बनाये बिना भी नहीं रहती।

कार्लमार्क्स का साम्यवाद, रूसो का प्रजातंत्र, पिछले ही दिनों विश्व-मानस को झकझोर देने में सफल हुए हैं। श्रीमती हैरियट स्टो की पुस्तक 'टॉम काका की कुटिया' ने अमेरिका से दास प्रथा का अंत करा दिया। नीत्से का नास्तिकवाद, जान स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावाद, डार्विन का विकासवाद आज एक प्रकार से लोक-मान्यता बन चुके हैं। हिटलर की 'मीन कैंफ' और माओ की 'लाल किताब' ने करोड़ों लोगों के मस्तिष्क इधर से उधर मरोड़ दिये। ईसाई धर्म और कम्यूनिज्म को व्यापक बनाने में उन लोगों के साहित्य ने गजब की भूमिका निभाई है।

हिटलर ने कुछ समय तक जर्मनी के समस्त विश्वविद्यालय बंद करके प्रोफेसरों से आदि से अंत तक का नाजीवादी का पाठ्यक्रम लिखाया था और समस्त छापेखाने तक उसी को छापने में लगे रहे, जब तक आरंभिक कक्षा से स्नातकोत्तर स्तर का पाठ्यक्रम छपकर तैयार न हो गया। वह पढ़ाया गया तो समूचे जर्मनी की विचारधारा ही तदनुरूप ढल गई। इन दिनों ईरान में भी ठीक इसी का अनुकरण हो रहा है।

यहाँ उचित और अनुचित की विवेचना नहीं हो रही है वरन् साहित्य की शक्ति पर ध्यान दिया जा रहा है। इस साधन को लोक

चिंतन को उलटने के लिए भी प्रयुक्त किया जाना चाहिए। उत्कृष्ट चिंतन को लोकमानस के अंतराल तक पहुँचाने के लिए प्राथमिक आवश्यकता युग-साहित्य के सृजन की ही नहीं, मुद्रण-प्रकाशन और प्रचार-विक्रय की भी है। यह तंत्र इतना व्यापक बनना है, जिससे देश एवं विश्व के समस्त भाषा-भाषियों तक युग-चेतना को पहुँचाया जाना संभव हो सके। विभिन्न विषयों के माध्यम से पुस्तकें, पत्रिकाएँ आदि इसी तंत्र के अंतर्गत प्रकाशित एवं प्रचारित की जाती हैं।

(२) लोक-मानस को प्रभावित करने में साहित्य के उपरांत दूसरा साधन है कला। कला के अंतर्गत संगीत, अभिनय, चित्र आदि कितने ही कार्यों की गणना होती है। इनका प्रभाव नशीला, उत्तेजक, आकर्षक होने और भावनाओं को लहरा देने के कारण गहरा पड़ता है। इन दिनों के संगीत ने लोकमानस को कामुकता, विलासिता के रंग में रंग दिया है। विज्ञापनों के साथ जुड़े तथा कमरों में टंगे चित्रों में से अधिकांश का प्रतिफल यही है। लाउडस्पीकरों पर बजते रहने वाले रिकार्ड तथा छपने वाले गायनों में से अधिकांश की प्रवृत्ति लोक-चिंतन को विलासिता के गर्त में ढकेलनी की है। नाटक अभिनयों में भी प्रायः यही दृष्टिगोचर होता है।

फिल्म उद्योग का प्रभाव इस क्षेत्र में सर्वोपरि है। अखबारों के पाठकों की तुलना में सिनेमा देखने वाले कहीं अधिक हैं। उसका प्रभाव भी सामने है। पोशाक, बाल, श्रृंगार, रंग-ढंग, चिंतन, रुझान पर सिनेमा किस प्रकार हावी है ? उसे उठती उम्र के नर-नारियों को देखकर ही नहीं, प्रौढ़-परिपक्वों का मनःस्तर देखकर भी भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है। साहित्य की शक्ति से फिल्म की शक्ति इन दिनों किसी भी दृष्टि से पीछे नहीं रह गई है।

युग साहित्य की तरह ही प्रज्ञा-अभियान को कला क्षेत्र में भी प्रवेश करना होगा। संगीत एवं अभिनय के साधनों को नव-सृजन से अनुप्राणित करना होगा। विशेषतया फिल्म बनाने वाला ऐसा तंत्र खड़ा करना होगा जो 'ब्रेनवाशिंग' की क्रांतिकारी भूमिका दृश्य

कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत कर सके। कहना न होगा कि प्रज्ञा अभियान द्वारा संचालित 'स्लाइड प्रोजेक्टर' अपनी प्रतिपादन की विशिष्टता के कारण आश्चर्यजनक गति से लोकप्रिय हो रहे हैं, तो युग-चेतना उत्पन्न करने के उद्देश्य से बनायी गयी फिल्म क्यों न सफल होंगी ?

(३) अगले दिनों नव-सृजन के असंख्यों प्रयोजनों के लिए हजारों-लाखों युग शिल्पियों को मोर्चे पर खड़ा करना होगा। छोटे कामों के लिए ढेरों कार्यकर्त्ताओं को जरूरत पड़ती है। एक देश के शासन तंत्र की शाखा-प्रशाखाओं में लाखों कर्मचारी काम करते हैं। समस्त संसार में तो उनकी संख्या करोड़ों होगी। धर्मतंत्र उससे बड़ा है। उसका कार्यक्षेत्र भी व्यापक है।

लोकसेवी, समयदानी, वानप्रस्थ, परिव्राजकों का इन दिनों जिस युग-परिवर्तन प्रक्रिया के लिए आह्वान किया गया है, उसका उत्साहवर्धक उत्तर भी मिल रहा है। सृजन-शिल्पियों को एक बड़ा समुदाय निकट भविष्य में एकत्रित हो जाने की संभावना है। इनके भोजन-वस्त्र आदि की निर्वाह व्यवस्था तो बनानी ही पड़ेगी। प्राचीन समय में साधु-ब्राह्मणों का निर्वाह भिक्षा के आधार पर हो जाता था। उन दिनों सम्मान भी था, पर अब स्थिति बदल जाने से वह बात बनेगी नहीं। धर्म स्थानों के अन्न क्षेत्र भी अब दूसरे लोगों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। ऐसी दशा में ईसाई चर्च की तरह अपने पादरियों का निर्वाह-प्रबंध मिशन को स्वयं ही करना पड़ेगा। सुदामा को इसी ही प्रयोजन के लिए कृष्ण ने द्वारिका वाला वैभव समर्पित कर दिया था। विश्वामित्र ने नई दुनिया बनाने के अभियान में हरिश्चंद्र का योगदान अर्जित किया था। प्रताप की सेना भामाशाह के अनुदान पर गुजर करती रही। बुद्धकालीन विहारों और संघारामों की, नालंदा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों की मूर्धन्य लोगों ने ही अर्थ-व्यवस्था सँभाली थी। गाँधी के पाँचवें पुत्र—जमनालाल बापू की गतिविधियों को रुकने न देने की जिम्मेदारी उठाये हुए थे। गोखले ने कांग्रेस कर्मियों के निर्वाह के लिए 'सर्वेंट ऑफ इंडिया

सोसायटी' बनाई थी, ठीक ऐसा ही प्रबंध लाला लाजपतराय ने 'पीपुल्स ऑफ इंडिया सोसायटी' के अंतर्गत किया था। मठों के पास इसी प्रयोजन के लिए विपुल संपदा एकत्रित रहती थी। प्रज्ञा मिशन ने उत्तरदायित्व तो इतना बड़ा उठाया है, पर इसके ज्ञानघट-धर्मघट प्रज्ञापीठों के दो कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति में ही खप जाते हैं। बड़ी संख्या में एकत्रित हो रहे युग-शिल्पियों की—उनके परिवारों को ब्राह्मणोचित न्यूनतम आवश्यकता, पूर्ति के लिए हमें भी कुछ तो प्रबंध करना ही होगा।

(४) देश की सीमा, परिस्थिति से आगे बढ़कर हमें विश्व व्यापक क्षेत्र की ओर ध्यान देना होगा। युगांतरीय चेतना का आलोक प्रकारांतर से सभी धर्मों में प्रवेश कराया जाना है और हर देश की विज्ञ जनता को साथ लेकर चलना है। विश्व-राष्ट्र, विश्व-धर्म, विश्व-भाषा, विश्व-संस्कृति का लक्ष्य सामने है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' का आदर्श अपनाये बिना विवर्तमान विग्रह एवं बिखराव पर काबू न पाया जा सकेगा।

इस दिशा में व्यावहारिक और तात्कालिक प्रयास यह होना चाहिए कि संसार भर के ६१ देशों में बसे हुए तीन करोड़ प्रवासी भारतीयों को सांस्कृतिक आत्मीयता के आधार पर भावना क्षेत्र में बाँधे रहने के लिए उत्साहवर्धक कदम उठाया जाय। यह कार्य प्रारंभ भी कर दिया गया है। अधिकांश देश के प्रवासी भारतीयों से संपर्क साधा और उन्हें मातृ-संस्कृति के संबंध सघन बनाये रहने के लिए प्रोत्साहित एवं तत्पर किया गया है। यह कार्य भविष्य में और भी तीव्र गति से चलेगा। साथ ही यह प्रयत्न भी होगा कि उनके यहाँ आश्रय लेकर इन धर्मों एवं देशों में देव-संस्कृति का, प्रज्ञा-चेतना का व्यापक प्रसार किया जाय। व्यापक एकता एवं प्रगति का यही मार्ग भी है। इस प्रयास में अधिकाधिक तीव्रता बढ़ती रहे इसके लिए बहुत सोचना और करना बाकी है।

(५) युग-शक्ति, आत्म-शक्ति के रूप में ही उभरेगी। उसके उपार्जन में साधना-तपश्चर्या का आश्रय लेना पड़ेगा, उसी स्तर में

मनीषा को बनाना होगा। इसके लिए ऐसे साधना केंद्रों की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ तेजस्वी-मनस्वी ढाले जा सकें। त्रेता में ऐसे ही विश्वामित्र ने तपोवन में राम-लक्ष्मण को बला-अतिबला क्रियाएँ सिखाई थीं, जिनके सहारे वे असुरता उन्मूलन एवं रामराज्य संस्थापन में समर्थ हो सके। कृष्ण ने संदीपन आश्रम में शिक्षा ही नहीं पाई थी वरन् विशिष्ट शक्ति अर्जित की थी। परशुराम का पराक्रम ऐसे ही तपोवन में उभरा था। लव-कुश एवं चक्रवर्ती भरत की ढलाई ऐसी ही टकसाल में हुई थी।

गायत्री तीर्थ के रूप में ऐसी ही एक प्रयोगशाला आरंभ की गई है। 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' के अंतर्गत प्रायः उसी स्तर का यज्ञ-विज्ञान खोजा जा रहा है। जैसा कि मध्य काल में आयुर्वेद ढूँढ़ निकाला गया था। इस केंद्र से युग चेतना से संबंधित विचारणा द्वारा एक दिव्य क्षमता उत्पन्न करके उसके सहारे प्रज्ञा-परिजनों को, प्रज्ञापुत्रों को, प्रज्ञापुंजों को आवश्यक प्रकाश प्रेरणा उपलब्ध हो सके, ऐसी चेष्टा की जा रही है। आवश्यकता इस बात की है ऐसे प्रकाश स्तंभ विश्व के हर कोने में खड़े हों और उन अणु शक्ति जैसे उत्पादन केंद्रों की ऊर्जा मानवी गरिमा को विश्व व्यवस्था को उच्चस्तरीय बनाने की भूमिका संपन्न करे।

ब्रह्मवर्चस की शोध प्रक्रिया को इसी का शुभारंभ बीजारोपण समझा जा सकता है। आत्म-शक्ति को अगले दिनों विश्व की सर्वोपरि शक्ति बनना है और इतना समर्थ होना है कि अवांछनीय प्रवाहों के भँवर में फँसे हुए लोकमानस को अपनी प्रचंड शक्ति को उबारने-उछालने में समर्थ हो सके। यह उपार्जन बौद्धिक ही नहीं, आत्मिक क्षेत्र की उच्चस्तरीय क्षमताओं के उभारने पर ही संभव हो सकेगा। प्राचीन काल में यह कार्य आरण्यक तपोवनों में बैठकर योगी, तपस्वी करते थे। आज की स्थिति के अनुरूप उसके दूसरे आधार बन सकते हैं। यही है— प्रज्ञा संस्थानों की जन-जागृति केंद्रों की क्रिया-प्रणाली तथा प्रज्ञा अभियानों की भावी योजना की एक झाँकी।

**मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)**